ॐ श्री परमात्मने नमः

नवम अध्याय

नवीन अध्याय में प्रवेश करने के पहले पूर्व में कही गई बातों को सार रूप में दुहरा लेने से नवीन अध्याय का ठीक-ठीक परिचय मिल जाता है और उसकी प्रासंगिकता समझ में आती है।

अर्जुन के विषाद का मूल कारण था मोह जिसके कारण स्वधर्म के ज्ञान का लोप हो गया था और किंकर्तव्यविमूढ़ता की स्थिति ने उसे कातर बना डाला था। दूसरे अध्याय में भिन्न-भिन्न तर्कों द्वारा भगवान उसे मोह को त्याग कर स्वधर्म को समझने के लिए प्रेरित करते हैं और कर्म योग का उपदेश देते हुए स्थितप्रज्ञ की छवि प्रस्तुत करते हैं। सार रूप में सम्पूर्ण गीता का परिचय देने के बाद तीसरे, चौथे और पांचवें अध्याय में कर्म संबंधी सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों की चर्चा और स्पष्टीकरण करते हैं। इन अध्यायों में कर्म-विकर्म और अकर्म का अर्थ स्पष्ट हुआ। कर्म का अर्थ है स्वधर्म का आचरण जो स्थूल रूप से किया जाता है। विकर्म का अर्थ वह मानसिक कर्म है जो कर्म की सहायता के लिए किया जाता है, जिसके परिणाम स्वरूप चित्त की शुद्धि होते-होते ऐसी स्थिति आ जाती है कि सारे विकार धुल जाते हैं, सारी वासनाएं क्षीण हो जाती है। यह अकर्म की दशा बताई।

अकर्म के भी दो रूप बताए। एक तो वह जहां रात दिन कर्म करते हुए भी ऐसा अनुभव हो कि मैं कुछ भी नहीं कर रहा। दूसरा वह जहां ऊपर से कर्म दिखाई न दे पर सतत् कर्म चलता रहे। पहला कर्म योग है और दूसरा संन्यास। ये दो विपरीत दिखाई देते हैं पर हैं एक ही। दोनों ही अकर्म है। अकर्म की स्थिति ही मोक्ष है।

इस प्रकार पांच अध्याय तक जीवन का सारा शास्त्र बताने के बाद भगवान विकर्म के भिन्न-भिन्न रूप यानी अकर्म की अवस्था तक पहुचने के भिन्न-भिन्न साधन बताते हैं। छठे अध्याय में उन्होंने ध्यान के विषय में बताया। सातवें में भक्ति का परिचय देते हुए कहा कि तुम कामना पूर्ति के लिए,

चाहे दुखों से पार पाने के लिए, जिज्ञासु बुद्धि से, अथवा प्रेम परवश होकर, किसी भी प्रकार से अपने को मेरी ओर उन्मुख करो तो सही। इस प्रकार सातवें अध्याय में शरणागति का मार्ग बताया जो हमारे कर्मों को अकर्म बना सकता है।

आठवें अध्याय में उन्होंने प्रयाण साधना का उल्लेख कर अन्त काल को मंगलमय बनाने के लिए आजीवन चौकस रह कर साधना, उपासना, भक्ति के लिए प्रेरित किया और अब नवें अध्याय में बड़ी ही अनूठी बात बताने जा रहे हैं अत: इसे उन्होंने राजविद्या कहा है। यह ऐसी साधना है जो सबसे उत्कृष्ट और सबसे सुगम है।

विनोबा भावे ने इस राजविद्या को समर्पण योग का नाम दिया है। इसमें कर्म योग और भक्ति योग का मधुर मिलाप है। कर्म योग का अर्थ है कर्म तो करना पर फल को त्याग देना। भक्ति योग का अर्थ है भावपूर्वक भगवान से जुड़ जाना। और यह राज योग अर्थात् समर्पण योग इन दोनों बातों को जोड़ते हुए कहता है कि कर्म और कर्म के फल दोनों को ईश्वर के साथ जोड़ दो। इसमें पेड़ लगाकर फल छोड़ना नहीं है बल्कि उस फल को भी प्रभु को समर्पित कर देना है और पेड़ लगाने के कर्म को भी प्रभु को समर्पित कर देना है। कर्म योग में जो फल तोड़ दिया वह मानो राजयोग में जोड़ दिया। कर्म योग में जो फल फेंक दिया उसे राजयोग में मानो बो दिया गया है। फेंका हुआ फल तो नष्ट हो सकता है लेकिन बोया हुआ फल तो अनन्त गुणा होकर मिलता है। ईश्वरार्पण बुद्धि से ही शरीर की प्रत्येक क्रिया करना ही फल को बोना है। यह ऐसी साधना है कि जिसके लिए पात्रता अपात्रता का विचार करने की आवश्यक ही नहीं। हम जहां भी हैं, जैसे भी हैं, जो भी कर रहे हैं, उससे अलग कुछ करने की जरूरत भी नहीं हो और जीवन में अनन्त आनन्द भी भर जाए इससे बढ़िया बात और क्या हो सकती है? इसलिए नवें अध्याय को राजविद्या कहा गया है।

श्री भगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञान सहितं यज्ज्ञात्वामोक्ष्यसेऽशुभात् ।।१।।

श्री भगवान बोले-हे अर्जुन, मैं तुम्हें ज्ञान और विज्ञान सहित सबसे गहरा भेद बताऊंगा जिसे जान कर तुम अशुभ से मुक्त हो जाओगे।

गीता का उपदेश भगवान ऐसी स्थिति में देते हैं जब कौरवों और पाण्डवों की सेना युद्ध के लिए तैयार खड़ी हैं, रणभेरियाँ बज रही हैं, घोड़े हिनहिना रहे हैं। विषाद मग्न अर्जुन ने गाण्डीव छोड़ रखा था, अब धीरे धीरे जैसे जैसे ज्ञान की बातें सुन रहा है उसमें चेतना आ रही है। ऐसे में यदि किसी का ध्यान पूरी तरह अपनी ओर खींचना हो तो सबसे अच्छा तरीका यह कहना है- ''एक भेद की बात सुनिये।'' सुस्त से सुस्त व्यक्ति भी चौकन्ना हो जाएगा। भगवान भी अर्जुन का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए गुह्यतम शब्द का व्यवहार करते हैं।

भगवान कहते हैं कि यह भेद की बात मैं तुम्हें ज्ञान और विज्ञान सहित बताने जा रहा हूं। ज्ञान विज्ञान शब्द पर पहले भी चर्चा की जा चुकी है। गीता में हर ज्ञान को भगवान ने विज्ञान सहित बताया है। संस्कृत के विज्ञान शब्द का अर्थ अंग्रेजी का साइंस नहीं होता। विज्ञान का अर्थ है विशेष ज्ञान जो स्वयं व्यवहार में उतार कर समझा जाए। इसी लिए गीता को जीवन का विज्ञान कहा गया है। गीता केवल इतना बताकर नहीं छोड़ देती कि सही जीवन कैसा होना चाहिए। यह भी बताती है कि सही जीवन जिया कैसे जाए। कोरे सिद्धान्त की बात बता देने से कभी लाभ नहीं होता, उसके पालन में जो व्यवहारिक दिक्कतें आती हैं उनका निदान बताने वाला ही अच्छा शिक्षक है।

उदाहरण स्वरूप, रेस में तेज दौड़ने से प्रथम आएंगे यह तो ज्ञान की बात है। यह सभी जानते हैं पर प्रथम आ तो नहीं पाते। अच्छा धावक बनने के लिए और भी ट्रेनिंग की जरूरत है। कैसे शरीर को लचीला बनाया जाए, दौड़ते समय सांस कैसे लें ताकि शरीर को आवश्यक आक्सीजन मिलता रहे और हम हाँफें नहीं, दौड़ आरम्भ करने के पहले शरीर को किस कोण में रखें आदि अनगिनत बातें हैं जिसे विज्ञान या दौड़ने की तकनीक कह सकते हैं। फिर भी मेहनत तो धावक को ही करनी होगी।

भगवान गीता में कहीं भी कोरा उपदेश नहीं देते। वे समस्त व्यवहारिक

सलाहें भी देते हैं ताकि ज्ञान को जीवन में उतारने में मदद मिले। फिर साधना करना हमारा काम है। भगवान का वादा है कि इस गुह्यतम ज्ञान को पाकर तुम अशुभ से मुक्त हो जाओगे। वास्तव में अर्जुन की सी स्थिति हम सबकी होती है। कदम कदम पर समस्याएं, संघर्ष और विरोधाभास हमें इतना आतंकित कर देते हैं कि हमें अशुभ ही अशुभ दिखाई देने लगता है। घबराहट में हम सही सही ढंग से सोच ही नहीं पाते। ऐसे में जो हल निकालते हैं वह भी सही नहीं होता। गलत निर्णय के अनुरूप कर्म करते हैं तो वह भी गलत ही होता है। कभी कभी तो ऐसा भी होता है कि निर्णय तो हम सही कर लेते हैं पर उसे कार्य रूप में परिणत करते वक्त मन और इन्द्रियां धोखा दे जाती हैं और अपना मनमाना करवा डालती हैं। परिणाम स्वरूप सब अशुभ ही अशुभ होता है। भगवान ने इस दुस्साधय रोग की एक दवा का आविष्कार किया है। इसका और विज्ञापन भी वे करेंगे।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ।।२।।

यह (ज्ञान) सभी विद्याओं का राजा, सभी गोपनीय भेदों का राजा, और पवित्र तथा उत्तम, है। यह प्रत्यक्ष अनुभव करने के योग्य है, धर्म युक्त है और बहुत ही आसानी (सु सुखं) से पालन करने योग्य तथा अविनाशी है।

इस श्लोक का हर शब्द एक-एक विज्ञापन है जिसमें नवें अध्याय में वर्णित राजयोग की प्रशंसा की गई है। भगवान कृष्ण बहुत ही अच्छे विज्ञापन कर्ता भी थे। राजसी वैभव, राजसी ठाठ शब्दों से हम बहुत ही प्रभावित होते हैं। किसी वस्तु के आकार को बहुत बड़ा बताने के लिए आज कल विज्ञापनों में 'किंग साइज' शब्द का प्रयोग किया जाता है। भगवान भी इस अध्याय में दिए जाने वाले ज्ञान को राजविद्या राजगुह्य कह रहे हैं।

विद्या वह है जिसके ज्ञान के द्वारा हम जीवन में किसी खास क्षेत्र में अच्छी तरह कार्य कर सकें। यह विद्या जीवन के हर क्षेत्र में उपयोगी है अत: इसे राजविद्या कहा गया है।

राजगुह्य शब्द का पंडितों ने अपने ढंग से मतलब निकाल लिया कि ब्रह्म ज्ञान सबके लिए नहीं है। यह गोपनीय बात है यानी सार्वजनिक नहीं। केवल ब्राह्मण ही इसके अधिकारी हैं या केवल संस्कृत में ही यह ज्ञान दिया जा सकता है। बात ऐसी नहीं है। वास्तव में किसी विद्या को पूर्ण बारीकी से समझना चाहे तो कुछ योग्यताएं हममें पहले से होनी चाहिए। स्कूल की छोटी कक्षाओं में विज्ञान की मोटी-मोटी बातें पढ़ा दी जाती हैं। बहुत सी बातों के लिए शिक्षक कह देते हैं कि इन सूक्ष्म बातों को तुम अभी नहीं समझोगे। वे ही छात्र जब कालेज में जाते हैं तो उन बारीकियों को समझ पाते हैं। तब वे बातें गुह्य नहीं रह जाती। इसी प्रकार इस राजविद्या को समझ पाने के लिए भी जिज्ञासु प्रवृत्ति, श्रद्धा आदि कुछ विशेष योग्यताओं की आवश्यकता है।

इसके साथ ही भगवान कहते हैं कि यह विद्या पवित्र, धर्म युक्त और अविनाशी तो है ही, साथ ही आसानी से पालन करने योग्य हैं। यह स्वयं अनुभव करने योग्य है। जैसे पहले के अध्यायों में जो साधना बताई गई- ध्यान योग अर्थात् मन के विचारों को रोकना, निर्गुण निराकार अचिन्त्य का चिंतन आदि बहुत कठिन है। मन का स्वभाव ही है विचार करना उसे कैसे रोकें? इन्द्रियों का प्रकृत्ति प्रदत्त स्वभाव ही है विषयों की ओर आकर्षित होना, उन्हें कैसे रोकें? परमात्मा है ही ऐसा जिसको चिन्तन के द्वारा समझा नहीं जा सकता फिर कैसे चिंतन करें? कैसे समझें? सब बहुत कठिन लगता है लेकिन अब जो साधना बताने जा रहे हैं वह बहुत सरल है।

इस प्रकार प्रशंसा में इतनी बातें कह दो तो सुनने वालों को संदेह होना स्वाभाविक है कि यह साधना पथ इतना सरल है तो सभी इस पर चल कर परम लक्ष्य को प्राप्त क्यों नहीं कर लेते? अर्जुन के चेहरे पर भी संदेह की रेखाओं को उभरते देखकर भगवान कहते हैं-

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ।।३।।

हे परंतप! इस (तत्व ज्ञान स्वरूप) धर्म में जिसकी श्रद्धा नहीं होती वे मुझे प्राप्त नहीं कर पाते और मृत्यु संसार के भंवर में फंसे रहते हैं।

इस श्लोक में इस राजविद्या राजगुह्य के अधिकारी के लिए आवश्यक शर्त बताई गई है। यह गोपनीय विद्या पूरी तरह बता भी दें तो ग्रहण वही कर पाएगा जिसके हृदय में श्रद्धा हो। यह विद्या राजगुह्य के साथ साथ प्रत्यक्षावगमं अर्थात् प्रत्यक्ष अनुभूति करने के लायक है। केवल कोरा ज्ञान प्राप्त कर लें तो हम भले अपने आपको गीता का पंडित समझ लें, वास्तव में यह विद्या तब तक हमारे लिए रहस्य ही बनी रहेगी जब तक हम स्वयं इसका पालन कर अपने में उतार न लें। प्रेम के विषय में बड़े-बड़े विद्वानों की पुस्तकें हम कितनी बार पढ़ लें, प्रेम के रहस्य को हम जान नहीं सकते जब तक हम स्वयं प्रेम में न डूबे, क्योंकि प्रेम जानने की नहीं, अनुभव करने की बात है। उसी प्रकार यह राजविद्या जानने की नहीं, स्वयं अनुभव करने की बात है।

अब जहां अनुभव करने, परीक्षण करके स्वयं देखने की बात आ जाती है वहां श्रद्धा होनी बहुत जरूरी है। उदाहरण के लिए, मान लीजिए किसी ने रसायनों द्वारा ऐसी आग लगा दी जो देखने में तो बड़ी ज्वाला के समान लगती है पर उसका तापमान अधिक नहीं है। उसकी लपट में हाथ डालेंगे तो हाथ जलेंगे नहीं। या किसी ने ऐसे रसायन का आविष्कार कर लिया जिसका पैर में लेप कर हम अंगारों पर चल सकते हैं। अब वह व्यक्ति हमें इसका विज्ञान समझाएगा। हम बड़ी असानी से हां हां, करते जाएंगे। अंत में वह कहेगा- अब तुम जरा इस आग में हाथ डालो। क्या हम डालेंगे? नहीं। हम उस व्यक्ति को संशय की नजर से देखने लगेंगे। कहीं हम इसके परीक्षण के शिकार तो नहीं बन जाएंगे?

इस प्रकार जान लेना और मान लेना सरल है लेकिन व्यवहार में उतारने के लिए जरूरी है कि बताने वाले के प्रति हमारे मन में श्रद्धा हो यानी हमें पूरा विश्वास हो कि यह व्यक्ति सचमुच जानकार है, हमारा हितैषी भी है और जो कह रहा है सही कह रहा है। यही श्रद्धा है। श्रद्धा का अर्थ न तो केवल आदर है, न केवल अंधविश्वास। जैसे अपने दादाजी के लिए मेरे मन में अपार आदर है लेकिन वे यदि बताने लगें कि अमुक दोनों तारों को मिला देने से यह मशीन ठीक हो जाएगी तो मैं यह रिस्क कभी नहीं लूंगी क्योंकि मैं जानती हूं कि उन्हें मशीन का ज्ञान नहीं है। किसी राह चलते व्यक्ति ने भी बता दिया तो भी मैं आंख मूंद कर विश्वास नहीं कर लूंगी।

पता नहीं यह व्यक्ति जानकार है या नहीं, कहीं विस्फोट न हो जाए। कोई जानकार भी हो लेकिन मुझे लगे कि मेरा अहित चाहता है तब भी मैं उसके कहे अनुसार नहीं चलूंगी।

श्रद्धा तो वह है जिसका आधार ज्ञान है और जिसकी परिपुष्टि आदर से होती है। अंधविश्वास जितना घातक है श्रद्धा उतनी ही आवश्यक। श्रद्धा के बिना तो मनुष्य कुछ भी नहीं सीख सकता, कुछ भी नहीं कर सकता। विज्ञान का कोई परीक्षण जब तक हम करेंगे नहीं हम विषय को समझ नहीं सकते। लेकिन परीक्षण करने के पहले हमारी अपने शिक्षक में श्रद्धा नहीं होगी तो हम उसके अनुसार परीक्षण करने को तैयार कैसे होंगे? अनजाने को जानने के लिए जिस विश्वास की जरूरत होती है उसे श्रद्धा कहते हैं।

साधारणत: हमें विश्वास होता है, पर श्रद्धा नहीं। हम अपने पुरखों से सुनते आए हैं कि भगवान अनन्त, अविनाशी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान है। उन्होंने हमें बनाया है, वे हमारा पालन करते हैं। वे हर जगह हैं, हमारे हर काम को देख रहे हैं। इस बात को मान कर हम उनकी पूजा करते हैं, पर तर्क की कसौटी पर कसने या जांचने परखने की मेहनत कौन करे? इसलिए उन्हें सब जगह रहने वाले, सब कुछ देखने वाले मानते हुए भी लोग धड़ल्ले से ठगी चोरी करते हैं। क्योंकि हमारा यह ज्ञान मात्र अंधविश्वास है। विश्वास के साथ ज्ञान जब मिलता है तभी श्रद्धा बनती है। यदि सचमुच हमें अनुभवजन्य ज्ञान हो जाए कि भगवान हमें देख रहे हैं तो चोरी, बेइमानी करने की हिम्मत हो ही नहीं सकती।

विश्वास का चूंकि कोई आधार नहीं होता, अत: वह लड़खड़ा भी सकता है, टूट भी सकता है लेकिन श्रद्धा कभी मिटती नहीं। जैसे भगवान की बहुत पूजा करने वाले व्यक्ति के ऊपर यदि एक के बाद एक मुसीबतें टूट पड़े तो शायद वह भगवान की मूर्ति पूजा घर से उठा कर फेंक दे कि मैं नहीं मानता भगवान को। मेरा तो भगवान पर से विश्वास ही उठ गया। फिर परिस्थितियां ठीक हो जाएंगी तो वह फिर से उस मूर्ति को धो पोंछ कर स्थापित कर लेगा, आंसू बहाएगा, भगवान से क्षमा मांगेगा। विश्वास को अविश्वास और पुन: विश्वास में बदलते देर नहीं लगती।

लेकिन जिसके हृदय में श्रद्धा है उसके साथ ऐसा नहीं होगा।

भगवान करुणानिधान हैं, दीनानाथ हैं, ऐसी श्रद्धा दृढ़ हो तो तकलीफ जितनी अधिक आएगी, मन भगवान की ओर उन्मुख उतना ज्यादा होगा। जैसे किसी की बातों में आकर फौज में भरती होने वाला फौजी युद्ध में बचने का उपाय खोजता रहता है लेकिन जिसे मातृभूमि से सच्चा प्यार है वह दुश्मन द्वारा पकड़े जाने पर, सताए जाने पर भी और अधिक श्रद्धा के साथ 'भारत माता की जय' कहेगा।

आध्यात्म का पथ अन्ततः परम सुख देने वाला तो है पर साधना काल में इस पर चलना कठिन है। इसलिए लोग चलने की हिम्मत नहीं करते। वे पंडित, दार्शनिक, या शोधकर्ता तो बन जाते हैं पर साधक नहीं बनते। इसलिए विद्या का लाभ नहीं होता और वे जन्म मृत्यु के चक्कर में फंसे रहते हैं।

इतना विज्ञापन करने के बाद भगवान तत्व ज्ञान बताना आरंभ कर रहे हैं:-

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ।।४।।

मैं अव्यक्त रूप से सारे जगत में विद्यमान हूं। सारे भूत मुझमें स्थित है लेकिन मैं इनमें नहीं हूं।

पढ़ने में इस श्लोक का अर्थ एकदम अटपटा लगता है। पहले तो भगवान कहते हैं कि मैं सम्पूर्ण जगत में व्याप्त हूं और तुरंत ही कह देते हैं कि मैं भूतों में नहीं हूं वे सब मुझमें हैं। इस विरोधाभास को एक रूपक द्वारा समझा जा सकता है।

सागर किनारे बैठ कर लहरों की अठखेलियां देखने वाले व्यक्ति के सामने समुद्र देव प्रकट हुए। उन्होंने कहा- 'मैं समुद्र देव हूं। यह सब कुछ जो सामने देख रहे हो वह सब मैं ही हूं। मैं सम्पूर्ण जल में, सभी लहरों में हूं। ये लहरें मुझमें ही उठ रही हैं, गिर रही हैं, खेल रही हैं। लहरें मुझ में है। मैं लहरों में नहीं।'

वास्तव में लहर समुद्र का ही ऊपरी और अस्थिर भाग है। लहरें समुद्र

में है लेकिन किसी लहर को समुद्र तो नहीं कहा जा सकता। जब लहरें ऊंची उठती हैं तो समुद्र का स्तर ऊंचा नहीं होता, जब कोई लहर गिरती है तो समुद्र का स्तर नीचा नहीं होता। दोनों में इतनी अभिन्नता होते हुए भी कितनी भिन्नता है।

वे दोनों बातें कर ही रह थे कि लहर ने बड़ी तेजी से उठना शुरू किया। घमंड में फूली हुई इस लहर देवी ने कहना आरम्भ किया- 'देखो मुझे देखो! मैं कितनी ऊपर उठ गई। देखो कितनी लहरें मुझमें समाती जा रही हैं। क्षुद्र हैं वे, उनकी हस्ती ही क्या है! देखो! आज तक इस इतिहास में ..... बात अधूरी ही रह गई और उसके गिरने का वक्त आ गया। उसकी भाषा, उसका स्वर सब कुछ बदल गया, 'हे भगवान! यह क्या हुआ! अरे अरे, मैं तो गिरती जा रही हूं। ओह! कितनी लहरों को कुचल-कुचल कर मैं इतना ऊपर उठी थी, अब ये ही मुझे खाने लगी। अन्याय है यह तुम्हारा भगवान! अत्याचार है। मेरा ऊंचा पद तुमने छीन क्यों लिया? तुमने ऊंचा उठाकर फिर क्यों मुझे नीचे गिराया?'

ऐसी दुखद स्थिति कब हुई? जब लहर देवी ने अपने को अन्य लहरों और समुद्र देव से अलग माना। उसका अहंकार ही उसके दुखों की जड़ बना। यही हालत हम लोगों की है। अपने जीवन, अपने अहं, अपने व्यक्तित्व, अपने पद, अपनी प्रतिष्ठा को इतना अधिक महत्व देते हैं कि अपने मूल (सच्चिदानंद) स्वरूप को भूल जाते हैं। हर उत्थान में घमंड से फूल कर कुप्पा हो जाते हैं, हर पतन के साथ अन्याय-अत्याचार की दुहाई दे कर भगवान को बुरा-भला कहने लगते हैं। कभी किसी का उत्थान, कभी किसी का पतन, इसको लहरों का स्वाभाविक खेल मान कर शांत भाव से ग्रहण नहीं करते। हम अपने तत्व स्वरूप से तादात्म्य न कर अपने विचारों के साथ तादात्म्य कर लेते हैं। यही दुखों की जड़ है।

जैसे हम स्वप्न देखते हैं। स्वप्न देखते समय उन विचारों के साथ हमारी शत-प्रतिशत तादात्म्यता रहती है इसलिए शेर से बचने के लिए दौड़ते हैं। पर स्वप्न में हमारी मृत्यु हो जाने पर भी हमारा अंत नहीं हो जाता। स्वप्न हम में है, हम स्वप्न में नहीं। जब स्वप्न टूटता है यानि तादात्म्यता उन विचारों के साथ समाप्त होती है तो सारी घबड़ाहट दूर हो जाती है।

अतः हम स्मरण रखें। विचार हम में है, हम विचारों में नहीं। विचार बह सकते हैं पर हम उनके साथ बहे नहीं। अपनी भावनाओं और विचारों से अपने को पृथक् कर लेना ही सबसे बड़ा योग है। फिर कोई विचार, कोई भावना हमें विचलित नहीं कर सकती।

संसार के साथ अपने संबंध हीन संबंध के बारे में आगे कहते हैं-

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ।।५।।

मेरे दोनों स्वरूपों को देखो। सारे भूत (वास्तव में) मुझमें नही हैं और मैं उनमें न रहते हुए भी उनका आधार स्वरूप हूं और उनका कारण स्वरूप हूं।

यह अटपटी लगने वाली वाणी भी हम एक खम्भे से बातचीत कर ही समझ पाएंगे। इस खम्भे को हमने भूत समझ लिया था और डर गए थे। जब प्रकाश हुआ और हमें सच्चाई का पता चला तो हमने खम्भे से बहसा-बहसी आरम्भ कर दी।

तुम भूत हो?

नहीं।

मुझे जो भूत दिखाई दिया वह था कहां?

मुझमें।

वह कहां गया?

भूत था ही नहीं।

तो फिर वह मुझे दिखा कैसे?

मेरे कारण।

अब स्वाभाविक ही हम झुंझला सकते हैं कि खम्भा कभी तो कह रहा है कि भूत मुझमें है, कभी कहता है भूत का कारण मैं हूं और कभी साफ इंकार कर देता है कि भूत था ही नहीं। अब खम्भे बेचारे का क्या दोष।

अपने संवाद में कौन सी बात उसने गलत कही?

ब्रह्म ज्ञान को शब्दों द्वारा समझने जाएंगे तो यही दशा होगी। अतः यह समझने की नहीं प्रत्यक्ष अनुभव करने की चीज है। पर अनुभव करने के लिए भी हम तभी प्रवृत्त होंगे जब बात कुछ-कुछ तो समझ में आएगी। बेचारे भगवान भी क्या करे? शब्दातीत ब्रह्म को शब्दों द्वारा समझाने का एक प्रयास और कर रहे हैं।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूताणि मत्स्थानीत्युपधारय ।।६।।

जिस प्रकार सर्वत्र विचरने वाली महान वायु आकाश में सदा ही स्थित है उसी प्रकार सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित है ऐसा जानो।

वायु आकाश में सर्वत्र इधर-उधर विचर सकती है, घुमड़ सकती है, आंधी तूफान पैदा कर सकती है, पेड़ों को उखाड़ सकती है लेकिन आकाश से बाहर नहीं जा सकती। जब वायु बहती है तो आकाश नहीं बहता। आकाश ही वायु का आधार है पर वायु की सुगन्ध, दुर्गन्ध, शीतलता आदि उसे प्रभावित नहीं कर सकते। आकाश तो अनन्त है, एक विशाल ब्रह्माण्ड को अपने में समाए हुए हैं। वायु तो इस आकाश में बहुत छोटा सा स्थान घेरे हुए है- पृथ्वी से मात्र कुछ मील ऊपर।

यही सम्बंध है जगत और ब्रह्म का। ब्रह्म आकाश की भांति सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का आधार होते हुए भी उसकी उथल पुथल से अछूता है। जगत के सुख दुख उसे सुखी या दुखी नहीं कर सकते। वायु की सुगंध, दुर्गंध, वेग, शीतलता आदि से निर्लिप्त निर्विकार जैसे आकाश अविकारी और नित्य शांत है उसी प्रकार जीव की हलचल से ब्रह्म में कोई विकार नहीं आता। वह अजन्मा, अविनाशी, अविकारी और अव्यय है।

अब जगत की सृष्टि स्थिति और लय के विषय में भगवान कहते हैं-

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ।।७।।

हे कौन्तेय! कल्प के अन्त में सब भूत मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं और (अगले) कल्प के आरम्भ में मैं पुनः उनका सृजन करता हूं।

जगत की सृष्टि और प्रलय के विषय में अष्टम अध्याय में अत्यन्त विस्तार से चर्चा हो चुकी है। यहां प्रसंग फिर आया है तो अधिक विस्तार में न जा कर एक रूपक देख लेना ठीक होगा।

रात को सोते सोते समय मैंने सपना देखा। मेरे ही मन के विचार स्वप्न के रूप में जीवंत लगने लगे। विशाल, अत्यन्त सुन्दर बांके बिहारी का मंदिर था और छप्पन भोग का प्रसाद लगाया जा रहा था। बांके बिहारी के दर्शन कर आंखें तृप्त हो रही थीं। घंटे घड़ियाल बजने लगे तभी मेरी नींद खुल गई। मेरे विचारों ने मेरे मन से ही निकल कर स्वप्न का रूप ले लिया था, एक क्षण में सब मुझमें ही समा गए। लड्डू, पेड़े, बर्फी, घंटा, पुजारी, बांके बिहारी की मूर्ति, उनकी बांसुरी सभी मुझमें विलीन हो गए। दुबारा जब नींद आएगी तब फिर मन के विचार पुनः भिन्न भिन्न रूप में प्रकट हो कर नए स्वप्न जगत की सृष्टि करेंगे और सृष्टि लय का यह खेल बार-बार चलता ही रहेगा। ऐसी ही कुछ बात भगवान अगले श्लोक में कह रहे हैं।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्।।८।।

मैं अपनी ही प्रकृति के वशीभूत होकर बार-बार इन समस्त भूतों की सृष्टि करता हूं।

अपने स्वप्न जगत की बार-बार सृष्टि करने को हम विवश हैं। अपने विचारों, भावनाओं और वासनाओं के वशीभूत हो कर हमें यह करना ही पड़ेगा। सृष्टि और लय की यह विवशता केवल स्वप्न जगत के लिए ही नहीं है। हमारा जागृत जगत भी हमारी अपनी मानसिकता की प्रतिछाया है। एक डाक्टर

रात को सो कर पुनः सुबह उठता है तो व्यापारी नहीं बन जाता। वह उसी मानसिकता के साथ उठने के लिए बाध्य है जिस मानसिकता के साथ वह सोया था। चोर, डाकू या संत जो भी हो, सबका संसार सुबह आरम्भ हो जाता है और रात को वह सोता है तो विलीन हो जाता है। वह चाहे भी तो इसके आरम्भ को न रोक सकता है, न बदल सकता है, न विलीन होने से बचा सकता है।

इसी प्रकार राष्ट्र की मानसिकता, राष्ट्र का सोच, सभी नागरिकों के सोच का मिला-जुला रूप है, उसी के अनुसार वह राष्ट्र होता है। हम कहते हैं न कि राष्ट्र का नवनिर्माण करना है तो हमें अपनी मानसिकता बदलनी होगी। देश को उन्नत बनाना है तो सबको आलस की प्रवृत्ति त्यागनी होगी। यानि देश के अधिकांश नागरिकों की प्रवृत्ति आलस और निकम्मेपन की है। उनकी इस मानसकिता के कारण ही हमारा देश विकास की दौड़ में पीछे है और यहां भ्रष्टाचार का बोलाबाला है। लेकिन हम भारतीय अपनी मानसिकता के अनुरूप कार्य करने को विवश हैं।

जिस प्रकार भारत का निर्माण भारतीय मानसिकता करती है उसी प्रकार पूरे विश्व का निर्माण करने वाली पूरे विश्व की मानसिकता है। इसे ही ईश्वर कहते हैं। यह ईश्वर परमात्मा की ही शक्ति है, परमात्मा की ही प्रकृति है और परमात्मा भी विवश है इसके अनुरूप सृष्टि करने और विलीन करने को।

परमात्मा ही प्रत्येक जीव में व्याप्त होकर उसके व्यक्तिगत जगत की सृष्टि करता है और ईश्वर में व्याप्त होकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की सृष्टि करता है और सृष्टि लय का खेल बार-बार चलता ही रहता है।

क्या सृष्टि होने पर वह प्रसन्न और प्रलय होने पर वह दुखी होता है? भगवान कहते हैं-

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ।।९।।

हे धनंजय, कर्म मुझे नहीं बांधते (क्योंकि) मैं आसक्ति रहित उदासीन की तरह हूं।

किसी भी वस्तु, व्यक्ति या कर्म के प्रति हमारे तीन प्रकार के प्रभाव हो सकते हैं- राग, द्वेष या उदासीनता। जैसे मित्र के प्रति राग होता है, शत्रु के प्रति द्वेष और किसी साधाारण राहगीर के प्रति हम उदासीन होते हैं। राग और द्वेष दोनों के ही मूल में आसक्ति है तथा उदासीनता के मूल में अनासक्ति। आसक्ति हमें बांधती है चाहे वह राग के रूप में प्रकट हो या द्वेष के रूप में। अनासक्ति हमें बांधती नहीं। हम अपने मित्र से मिलने के बाद भी कई दिन तक उसके बारे में सोचते रहते हैं, शत्रु से मिलकर भी कई दिन तक उसके बारे में सोचते रहते हैं, लेकिन बस या रेल में हमारे बगल में कौन बैठा था उसका चेहरा हमें उरतने के एक मिनट बाद भी याद नहीं आता।

यही अवस्था कर्म की है। कर्म अच्छा हो या बुरा, दोनों स्थिति में बंधनकारी है यदि उसमें मैं या मेरा अर्थात् आसक्ति का भाव जुड़ा है। आज मैंने किसी को बीस हजार रुपए दान दिए। उसमें 'मैं' पना जुड़ गया और मैं बंध गई। इन रुपयों का सदुपयोग करेगा या दुरुपयोग ... पता नहीं वह मेरे प्रति कृतज्ञता का भाव रखेगा कि नहीं ... मुझे इसका क्या फल मिलेगा ... इस जन्म में उससे कुछ लाभ न भी हो तो क्या? अगले जन्म में तो मिलेगा ही..... आखिर भगवान तो देखने वाला है ही..... आदि विचारों के साथ मैं रुपयों से मानसिक रूप से अभी भी चिपकी हुई हूं। इसी प्रकर किसी को कटुशब्द कहने के कारण मेरा मन बार-बार मुझे धिक्कार रहा है क्योंकि वह मुझे बदनामी का भागी बनाएगा या इस बुराई का कोई न कोई नतीजा मुझे भविष्य में अथवा अगले जन्म में भोगना पड़ेगा। यहां भी मैं मानसिक रूप से चिपक गई।

लेकिन सुबह से उठकर नहाने-धोने, खाना पकाने, बच्चे को खिलाने जैसे सैकड़ों कार्य मैं कर चुकी हूं जिसमें कहीं इस प्रकार की भावना नहीं जुड़ी। वे कर्म मुझे बांधते नहीं क्योंकि उनके प्रति मेरी आसक्ति नहीं।

जिस प्रकार आसक्ति शारीरिक नहीं बल्कि मानसिक होती है उसी प्रकार अनासक्ति भी मानसिक है। संसार से आसक्ति न रखने का मतलब यह नहीं कि हम इसे छोड़ कर जंगल में चले जाएं। हमें तो बस 'मैं,' 'मुझे चाहिए,' और 'मुझे नहीं चाहिए' की भावना को छोड़ना है। तब हम जो भी करेंगे उससे नवीन वासनाएं पैदा नहीं होगी। पुरानी का क्षय अवश्य होता जाएगा।

हम मुक्त होते जाएंगे। भगवान की इस सृष्टि की रचना और संचालन के पीछे कोई व्यक्तिगत हानि, लाभ, राग, द्वेष, पासन्द, नापसन्द की बात नहीं। वे चेतना के रूप में सब प्राणी में विद्यमान अवश्य हैं किन्तु सबसे उदासीन और अनासक्त हैं। जैसे सिनेमा का पर्दा सभी घटनाओं का आधार है किन्तु स्वयं निर्विकार रहता है, पर्दे पर आंधी आती है, पेड़ धराशायी हो जाते हैं पर पर्दा फटता नहीं। यदि वह आंधी में फटने या वर्षा में भींगने लगे तो सिनेमा का आधार बनना संभव ही नहीं होगा।

ब्रह्म और जगत के संबंध में और आगे बताते हुए भगवान कहते हैं-

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ।।१०।।

मेरी अध्यक्षता में प्रकृति चर-अचर जगत की रचना करती है और इसी कारण जगत का चक्र चलता आ रहा है।

प्रकृति का अर्थ है सम्पूर्ण चर अचर जगत की समष्टि वासना। पहले ही बताया जा चुका है कि व्यक्ति विशेष की वासना के अनुसार ही उसकी मानसिकता होती है, उसी के अनुसार उसके व्यक्तिगत संसार का निर्माण होता है। इस प्रकार व्यक्ति के संसार की रचना करने वाली उसकी प्रवृत्ति है। लेकिन यह वासना अर्थात् प्रकृति भी अपना खेल तभी तक दिखा सकती है जब तक जीव में चेतना है। यह चेतना ही ब्रह्म स्वरूप है। चेतना यानि आत्मा को स्वयं कुछ नहीं करना पड़ता, लेकिन इसके बिना कुछ भी नहीं हो सकता। चेतना की उपस्थिति यानि अध्यक्षता में ही हमारी वासनाएं हमारे संसार का निर्माण करती है। इसी बात को समष्टि रूप में कहे तो यही कहा जाएगा कि ब्रह्म की अध्यक्षता में प्रकृति इस चराचर जगत को बनाने-बिगाड़ने का खेल रचती आ रही है।

परमात्मा तो सदा सर्वत्र सबमें समान रूप से स्थित है, एक लाख आदमी भी मर जाएं या जन्म ले लें तो जगत घटता-बढ़ता नहीं क्योंकि परमात्मा तो समुद्र की भांति एक ही है। जीवों का रूप लहरों की भांति बदलता रहता है। प्रकृति परिवर्तनशील है, भगवान नहीं।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ।।११।।

मूढ व्यक्ति मनुष्य देह में मुझे नहीं देख पाते। मै सभी प्राणियों का महेश्वर हूं, इस परम भाव को वे नहीं जानते।

भगवान स्पष्ट कह रहे हैं- प्राणी मात्र में मुझे न पहचानने वाले मूर्ख हैं। मैं सबमें हूं चाहे वह अच्छा हो या बुरा, निम्न वर्ग का हो या उच्च वर्ग का, पशु हो या मानव। मैं उनका महेश्वर, उनका पालक, उनका संचालक, उनका संरक्षक हूं।

भगवान के भक्त को तो सब जग सियाराम मय जान पड़ता है इसलिए उसके हृदय में प्रेम का अजस्र स्रोत बहता है लेकिन हम मूढ संसारी! प्राणियों में तो एकता क्या देखेंगे भगवान के अलग-अलग रूपों में भी एकता नहीं देख सकते। शैव शाक्त से लड़ता है, शाक्त वैष्णव से। अपने-अपने मंदिर, मस्जिद, चर्च, गुरुद्वारे, विहार, आश्रम बनाए हुए हैं और अपने-अपने भगवान के नाम पर लड़ मरने को तैयार है। एक-दूसरे के खून के प्यासे हुए जा रहे हैं। भगवान कहते हैं कि ये मूर्ख यह नहीं जानते कि मैं किसी से दूर, किसी से अलग नहीं हूं। एक दूसरे से लड़कर वे मुझसे ही लड़ते हैं। वास्तविकता को न जानने के कारण उन्हें ही दुख के सागर में गोते लगाना पड़ता है।

मानव को प्राणी मात्र से प्रेम करना चाहिए, वही एक ऐसा प्राणी है जो प्रेम, दया, करुणा आदि की भावना सबके लिए रख सकता है। पशु तो बेचारे विवश है उन्हें तो अपने और अधिक से अधिक अपने अंडे-बच्चे के बारे में सोचने से अधिक क्षमता प्रकृति से मिली ही नहीं। लेकिन हमने तो प्रकृति प्रदत्त इन कोमल भावनाओं को जानबूझकर कुचल रखा है। हालत यह है कि हम अपनी पाली हुई मुर्गी के चूजे को ज्यादा शौक से, ज्यादा मजे से, ज्यादा खुश होकर खाते हैं। वह बेचारा चूजा जो कुछ देर पहले तक हमें देखकर पुलकित हो दौड़ा आया था, खुश होकर हमारी हथेली पर फुदक कर चढ़ गया था उसकी गर्दन दबोच दी गई और उसे पकाकर परोस दिया गया और हम खुशी से फूल रहे हैं।

अपनी लालासाओं की पूर्ति के लिए हम न जाने कितनों का गला घोंटते हैं, कितनों की भावनाओं को ठेस पहुंचाते हैं, कितनों के अरमानों को कुचल डालते हैं और जब हमारी लालसाएं अपूर्ण रह जाती है, हमारी भावनाओं को ठेस पहुंचती है, हमारे अरमान कुचले जाते हैं, तब हम कहते हैं- 'भगवान तो सबको प्यार करने वाले हैं, फिर मुझे इतना दुख क्यों दे रहे हैं?

भगवान यहां कह रहे हैं- 'रे मूर्ख! मैं तुझमें हूं तो क्या मुर्गी में नहीं? तेरा भगवान हूं तो क्या मुर्गी का नहीं? अरे! प्राणी मात्र में मुझे पहचान। सबको प्यार कर। केवल मंदिर में मेरी चतुर्भुज मूर्ति की जयजयकार मत कर, मेरी जीवंत मूर्तियों को देख। मेरे वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होने के बाद तेरे दुखों का अंत वैसे ही हो जाएगा जैसे जागने के बाद स्वप्नों की तकलीफों का अंत हो जाता है।' भगवान कहते हैं-

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ।।१२।।

वृथा आशा, वृथा कर्म, वृथा ज्ञान वाले अज्ञानीजन राक्षसों और असुरों जैसे मोहित करने वाले स्वभाव को अपनाए हुए हैं।

प्रस्तुत अध्याय में भगवान ने पहले परमात्मा के स्वरूप का विवेचन किया फिर जगत के विषय में बताया और अब जीव की स्थिति स्पष्ट कर रहे हैं।

जीव वास्तव में ब्रह्म ही है। अपने तात्विक स्वरूप को न जानने के कारण वह अपने को क्षुद्र मानव समझता है। यहां तक तो बात फिर भी बनती है कि हम अपने आप को मानव समझें और यह समझें यह मानवजन्म हमें देवत्व की प्राप्ति के लिए साधना करने के लिए मिला है। लेकिन वस्तुस्थिति इसके विपरीत होती जा रही है। हमारा उद्देश्य साधना अर्थात् कामनाओं का निग्रह नहीं बल्कि कामनाओं की निर्बाध पूर्ति बन गया है और इसके वशीभूत होकर हम मानव से देव बनने के बदले दानव बनते जा रहे हैं।

जब हम किसी वस्तु की कामना करते हैं तो वह हमें बहुत महत्वपूर्ण

मालूम देती है। जैसे जैसे लालसा बढ़ती है हमें ऐसा मालूम होने लगता है कि इसके बिना तो जीवन अधूरा है। जीना ही बेकार है। जमीन आसमान एक करने पर जब वस्तु हमें मिल जाती है और जीवन में पूर्णता नहीं मालूम देती तो लगने लगता है यह वस्तु ही बेकार है इसके लिए इतना झंझट भी मोल लिया और कोई फायदा भी नहीं हुआ। आराम के बजाए तकलीफ और बढ़ गई। इस प्रकार बेकार ही आशा (इच्छा) के लिए हम बेकार के कर्म करते रहते हैं। इसके पीछे ज्ञान भी वृथा लगता है। हम स्वयं सोचने लगते हैं- मेरी ही मति मारी गई थी जो इस बेकार चीज के लिए दौड़ा।

धन के लिए रात दिन एक कर बुरे से बुरा कर्म करके भी कमाते हैं। फिर उसके साथ चिंता, कलह, आपसी वैमनस्य, एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या भाव आदि आते हैं। सुख मिलता नहीं तो पछताते है। तब सोचते हैं- 'वही दिन अच्छे थे जब छोटे से घर में रहते थे। शांति तो थी जी में।' लेकिन ऐसी हजारों गलतियां करते हैं, लाखों बार पछताते हैं पर सन्मार्ग पर चलने की बात नहीं सोचते। कामनाएं हमें ऐसा माहित कर लेती हैं कि देवत्व को पाना तो दूर, मानवता तक ताक पर रख दी जाती है और हम राक्षसी और आसुरी भाव अपना लेते हैं।

संस्कृत में बहुवचन शब्द साक्षरा: का अर्थ है शिक्षित मनुष्य और इसे उलटा करके पढ़ा जाए तो राक्षसा: शब्द बनता है। यानी राक्षस वह मनुष्य है तो शिक्षित होते हुए भी अशिक्षित की भांति विपरीत आचरण कर रहा है।

आज के शिक्षित व्यक्ति अपने वृथा ज्ञान कर्म और आशाओं के वशीभूत होकर इसी प्रयत्न में लगे रहते हैं कि काम कम से कम करना पड़े दाम अधिक से अधिक मिले। दूसरों को अधिक से अधिक दे पाने की कोशिश के बदले उनका अधिक से अधिक शोषण कर लेने का प्रयत्न रहता है। अपने को शिक्षित समझने वाले लोग अशिक्षितों को हीन तो समझते हैं लेकिन कभी अपने अन्दर झांक कर नहीं देखते कि उनका अपना कितना चारित्रिक पतन हो चुका है। यही आसुरी भाव है। गीता के सोलहवें अध्याय में भगवान इसके विषय में अत्यन्त विस्तार से बताते हैं। असुर वह है जिसे दूसरों को कष्ट देने और रुलाने में आनन्द मिलता है अर्थात् वे अपने आनंद के लिए दूसरों को सताते हैं, उनका शोषण करते हैं पर बातें बड़ी बनाते हैं- 'क्या

बताएं समाज इतना गंदा हो गया है कि भला आदमी बन कर तो रहना ही असम्भव हो गया है।' भगवान ने इस श्लोक में दर्पण दिखाया है, हम समझ लें हम कैसे हैं, कहां हैं। किन्तु वे दर्पण दिखाकर, वस्तुस्थिति बताकर ही नहीं छोड़ देंगे। कृपालु भगवान तो करुणा के वशीभूत होकर हमें आनंदमय जीवन दिलाना चाहते हैं।

जब सेना की किसी टुकड़ी का कमांडर उसे आवश्यक निर्देश देना चाहता है तो उसके सामने एक नक्शा होता है। एक लाल घेरा बनाकर वह कहता है– 'यह तुम्हारा लक्ष्य है।' उस लक्ष्य की पूरी जानकारी वह देता है। फिर वह एक स्थान पर नीला घेरा बनाकर कहता है– 'यह तुम्हारी स्थिति है।' इसके बाद वह बताता है कि वर्तमान पोजीशन से लक्ष्य तक पहुंचने के लिए क्या करना होगा। कैसे वहां तक सुगमता से पहुंचा जा सकता है। इसी गुप्त ज्ञान, इसी राजविद्या का आरम्भ अब भगवान अगले श्लोक से कर रहे हैं।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्य मनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ।।१३।।

हे पार्थ, जो महात्मा पुरुष हैं वे मेरी दैवी प्रकृति का आश्रय लेते हैं। मुझे ही सम्पूर्ण भूतों का अविनाशी स्रोत समझकर अनन्य मन से मुझे भजते हैं।

ब्रह्म है सभी प्राणियों का महेश्वर, सबका अव्यय बीज, और हम हैं मोघ आशा कर्म और ज्ञान से घिरे जीव, जो भ्रमित होकर राक्षसी व्यवहार कर रहे हैं। हमें ब्रह्म तक पहुंचना है तो समझना होगा कि महात्माजन क्या करते हैं। नए मार्ग पर कदम बढ़ाने हैं तो सबसे पहला काम तो उन लोगों से रास्ते की जानकारी प्राप्त करना है जो इस मार्ग पर चल चुके हैं। यहां भगवान वही बता रहे हैं।

भगवान द्वारा ही बनाई गई सत्व रजस तमस इस त्रिगुणात्मिक प्रकृति में सत्व की भावना अधिक होने से दैवी प्रकृति बनती है और रजस तमस की अधिकता होने से आसुरी प्रकृति बनती है। इसका विस्तृत विवरण सोलहवें

अध्याय में आता है। पिछले दो श्लोकों में तो आसुरी प्रकृति का आश्रय लेने वाले का वर्णन किया गया जो हमारी वर्तमान स्थिति है। अब भगवान कहते हैं कि महात्मा पुरुष आसुरी नहीं दैवी भाव को अपनाते हैं।

महात्मा जन जानते हैं कि सृष्टि के प्रत्येक प्राणी में एक ही परमात्मा है। स्वाभाविक ही वे समाज के हर प्राणी को उतना ही सम्मान व आदर देंगे जितना अपने आप को, क्योंकि दूसरों का और अपना तत्व स्वरूप एक ही है। साधारणत: तो हमारा व्यवहार दूसरों के साथ कुछ ऐसा होता है- 'हमारा खून खून, तुम्हारा खून पानी'। हमें जो शब्द अपने लिए अपमानजनक लगता है वह दूसरों के लिए इस्तेमाल करने में कोई हिचक नहीं होती। जो स्थिति हमें दुखदायी लगती है उसमें दूसरों को देखकर हममें कोई दया का भाव नहीं उपजता। हमें तो बस अपनी लालसा, अपनी कामना पूरी करनी है, लेकिन महात्माजन समझते हैं कि ये वृथा कामनाएं ही हमें पथच्युत करती हैं और दुखों की भी उत्पति करती है अत: वे जरा भी ध्यान इनमें नहीं लगाते। वे अपना पूरा-पूरा ध्यान भगवान के भजन में लगाते हैं अन्य कहीं नहीं।

यह अनन्यता ही परम ध्यान के द्वार की कुंजी है। अनन्यता का अर्थ है न अन्यता। अनन्यता के साथ प्रेम करने का अर्थ है दूसरी किसी भी वस्तु या व्यक्ति में रंच मात्र भी प्रेम न होना। अनन्यमनस होकर भजन करने का अर्थ है मन को केवल भगवान में लगाकर कार्य करना। तब क्या हम सबसे प्रेम करना छोड़ दें? क्या हम दूसरे किसी का कार्य करना छोड़ दें? पति पत्नी को त्याग दें? बच्चों को प्रेम न करें? कैसा ज्ञान दे रही है गीता हमें? क्या इसे ही जीवन की कला कहते हैं?

उत्तेजित होने की आवश्यकता नहीं। इन सब प्रश्नों के उत्तर हमें मिल जाएंगे यदि हम इस पंक्ति के अगले शब्दों को देख लें। वह है 'ज्ञात्वा भूतादिं अव्ययम्' सभी में भगवान को देखते रहें और भगवान से प्रीति बनाए रखें तो फिर सभी से प्रीति हो गई कि नहीं? केवल भावना बदल जाएगी। अभी हम उन्हें अपना मानते हैं इसलिए प्रेम ने आसक्ति का रूप ले रखा है। इसके कारण यह प्रेम हमें सुख तो कम देता है दु:ख अधिक। पति के एक दिन देर से आने का दु:ख प्रतिदिन समय से आ जाने के सुख से ज्यादा हो जाता है।

संसार को मेरा मानकर प्रेम करेंगे, सेवा करेंगे तो आसक्ति योग होगा। संसार को भगवान का मानकर सांसारिक कर्मों को भगवान की सेवा के रूप में ग्रहण करेंगे तो भक्तियोग होगा। भक्त के लिए तो पत्नी भी भगवान है, बच्चा भी भगवान है, पड़ोसी भी भगवान है, राह चलता व्यक्ति भी भगवान ही है अतः वह किसी के साथ कुछ भी करता रहे, उसकी अनन्यता कभी भंग नहीं होती। संसार को छोड़ने की आवश्यकता नहीं उसके प्रति भावना बदल दें, 'यह संसार मेरा नहीं लेकिन मेरे प्राणनाथ का है अतः इसका जतन मुझे अपनी सामर्थ्य के अनुसार अच्छी से अच्छी तरह करना है।' यह राजविद्या जीवन को आनंदमय बना देगी।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ।।१४।।

(महात्मा) सतत् कीर्तन करते हुए परिश्रम और दृढ़निश्चय के साथ नियमपूर्वक मुझे नमस्कार करते हुए मेरी उपासना करते हैं।

कीर्तन शब्द सुनते ही हमारी आंखों के सामने ढोलक, मजीरे, खड़ताल आदि एक से बढ़ कर एक गाजे बाजे के साथ जोर शोर से भजन गाने वाले का दृश्य घूम जाता है, और इस श्लोक का अर्थ यह होगा कि भगवान हमें अपना भक्त तब समझेंगे जब हम मन में पक्का इरादा कर लें कि कीर्तन में बैठें तो कभी नहीं उठें, खूब मेहनत से गाएं और नियम पूर्वक हर पंक्ति के साथ झुक झुक कर दण्डवत करते रहें। लेकिन यह तो सम्भव है नहीं। सतत् का अर्थ है अविरल, निरन्तर। हम जिसे अखण्ड कीर्तन कहते भी हैं वह भी चौबीस घंटे का होता है, अधिक से अधिक तीन दिन का। उसमें भी गाने वाले हर घंटे दो घंटे पर बदलते हैं। जो बात एकदम ही सम्भव नहीं वह भगवान बोलेंगे ऐसा तो नहीं लगता। अवश्य ही 'सतत् कीर्तन' में कीर्तन का अभिप्राय कुछ और ही है।

कीर्तन केवल मुख से नहीं बल्कि मानसिक और बौद्धिक स्तर पर किया जाना चाहिए। कीर्तन भजन में हम भगवान की महिमा का गान करते हैं। प्रभु की महिमा केवल गाने गा कर ही प्रकट नहीं की जाती। जब हमारे

पास कोई बहुत अच्छी चीज होती है तो हम अपने को महिमामाण्डित समझते हैं। हम गर्व के साथ उसे दूसरों को दिखाते हैं ताकि वह हमारी महिमा का परिचय पा सके। हमारे बच्चे सभ्य सुसंकृत हों तो हम अपने को गौरवान्वित समझते हैं। लोगों से कहते हैं- 'देखो मेरा बेटा है।' बेटे से कहते हैं, 'तूने मेरा नाम रोशन कर दिया।'

अभिप्राय यह है कि हर वक्त हमारे कर्म और विचार ऐसे हों कि हमारे परमपिता की महिमा प्रकट हों। तब वह सही अर्थ में सतत् कीर्तन होगा। भगवान यही कहते हैं- तुम मेरे पुत्र हो, मेरे ही स्वरूप हो, अपने कर्मों में, वाणी में मेरी दिव्यता प्रकट होने दो। अपने जीवन को पशुओं की भांति मत बनाओ। अपने आदर्शों पर दृढ़ रह कर निरन्तर परिश्रम करो।

दूसरी बात इस श्लोक में बताई गई है नमस्कार करते हुए उपासना करने की। नमस्कार शब्द का इतिहास बहुत पुराना है। इसका वास्तविक भाव तो अब लुप्त हो गया है, हम अभ्यासवश यन्त्रवत् भगवान के मन्दिर से सामने से गुजरते वक्त हाथ जोड़ लेते हैं।

प्राचीन काल में ऋषि मुनि जब यज्ञ करते थे तो हर आहुति के साथ 'इदं न मम' अर्थात् 'यह मेरा नहीं है' कहते थे। इस प्रकार हर वस्तु के साथ उनका भाव रहता था कि यह मेरी नहीं ईश्वर की है और उसी को अर्पण है। इससे मैं यज्ञकर्ता हूं, यह अहंकार नहीं आता था। न मम:, न मम: ही समय के साथ नम: बन गया। नम: शब्द अहंकार के त्याग का प्रतीक है। नमस्कार करते समय हम शीष भी झुकाते हैं यानी जिसे नमस्कार किया उसे अपने से ऊंचा माना, उसे श्रद्धा और आदर दिया तथा उसके सामने अपने अहंकार का त्याग किया।

नमस्कार करते हुए उपासना का अर्थ है अहंकार को त्याग कर कर्म करना। कर्म करते जाएं पर उसमें 'मैं करने वाला हूं' का भाव न रहे। भगवान ही वास्तविक कर्ता हैं। फल 'न मम, न मम' करते हुए भगवान को अर्पण कर दें। यही कर्म योग है। इस प्रकार यह श्लोक भक्तियोग और कर्म योग का सुन्दर सामंजस्य प्रस्तुत करता है। कर्म और भक्ति की बात बताने के बाद भगवान ज्ञान की चर्चा करते हैं।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ।।१५।।

दूसरे (कुछ) साधक ज्ञानयज्ञ के द्वारा एकीभाव से मेरा पूजा करते हुए मेरी उपासना करते हैं। दूसरे कुछ साधक अपने को पृथक् मानकर और कुछ संसार को मेरा रूप मानकर मेरी उपासना करते हैं।

ज्ञानयज्ञ का अर्थ है अपने अज्ञान की आहुति देकर ज्ञान अर्जित करना। ज्ञान की पूर्णावस्था में विश्व के प्रत्येक प्राणी और प्रत्येक कण में परमात्मा मूर्तिमान दिखाई देता है फिर भी साधक अपनी व्यक्तिगत रुचि के अनुसार प्रभु के साथ अपना संबंध स्थापित करता है।

एक बार हनुमान जी से रामचन्द्र जी ने पूछा, 'तुम्हारा मेरा क्या संबंध है?' हनुमान जी ने कहा, 'देहधारी के रूप में मैं आपका दास हूं, जीव के रूप में मैं आपका अंश हूं और आत्मा के रूप में हे प्रभु, आप और मैं एक ही हैं। यह मेरा दृढ़ विश्वास है।' इस प्रकार हनुमान जी अपने को भगवान से एक भी मानते हैं, पृथक् भी मानते हैं और भगवान को पूर्ण रूप से जानते हुए स्वयं को एक अंश भी मानते हैं। एक ही भगवान के साथ तीन प्रकार की द्वैत, विशिष्टताद्वैत और अद्वैत बातें कहते हुए भी उनके मन में कोई भ्रम नहीं। वे कहते हैं- यह मेरा दृढ़ मत है।

हनुमान जी तो परम ज्ञानी थे और वे समझते थे कि एक ही प्रभु के साथ तीनों प्रकार का संबंध रखा जा सकता है। वे किसी एक सिद्धान्त पर आग्रह नहीं रखते थे। भगवान भी यहां तीनों प्रकार के संबंधों को मान्यता दे रहे हैं लेकिन हम हैं कि द्वैत, विशिष्टाद्वैत, अद्वैत के झगड़े में उलझे रहते हैं। अपने मत को ही सही मानते हैं और दूसरों को गलत मानते हुए भी छोड़ नहीं देते, उससे झगड़ भी पड़ते हैं।

भगवान यहां स्पष्ट करते हैं कि उनकी हर रूप में उपासना की जा सकती है। उपासना किसी भी विधि से क्यों न की जाए, सब एक परमात्मा की ही पूजा है क्योंकि-

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ।।१६।।

मैं ही क्रतु हूं, मैं ही यज्ञ हूं, स्वधा मैं हूं, मंत्र मैं हूं, अग्नि मैं हूं और हवन रूपी क्रिया भी मैं ही हूं।

पितामहस्य जगतो माता धाता पिततामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ।।१७।।

इस जगत का पिता, माता, धारणकर्ता, पितामह, जानने योग्य पवित्र ओंकार तथा ऋक् साम और यजुर्वेद भी मैं ही हूं।

स्वर्ण से हमने अनेकों आभूषण बनाए। स्वर्ण यही कहेगा कि चूड़ी भी मैं ही हूं। अंगूठी भी मैं ही हूं, बाली भी मैं ही हूं, हार भी मैं ही हूं। कंगन भी मैं ही हूं। जब पदार्थ रूप में भगवान सभी वस्तु और प्राणी में विद्यमान हैं तो पूजा के पदार्थ पूजा की मूर्ति और पूजा करने वाले भेद ही कहां रहा? पर हमें ज्ञान होना चाहिए।

इसका अर्थ यह भी नहीं कि यह बात मानकर हम पूजा उपासना ही छोड़ दें। यदि मैं भी भगवान ही हूं तो मैं क्यों पूजा करूं? लेकिन जरा विचार कीजिए, मैं भगवत् स्वरूप हूं, यह भाव केवल पूजा छोड़ने के विचार के समय ही रहता है या बाकी समय भी रहता है। क्या अपार कष्ट की स्थिति में भी आप कृष्ण भगवान की तरह हंसते रह सकते हैं? यदि हां, तो बेशक छोड़ दीजिए पूजा उपासना। यदि नहीं, तो यह पूजा उपासना इस ज्ञान को हृदय में धारण करने के लिए ही करनी है।

भगवान केवल पदार्थ रूप में ही सब में नहीं, वे सबके निर्माता, धारणकर्ता भी हैं। वेद भी वे ही हैं और वेदों में जिस ओंकार रूप से उनका वर्णन किया गया है वह भी वे ही हैं। अभिप्राय यह है कि उनका हमारा संबंध तो स्वर्ण और गहनों के संबंध से भी विशिष्ट है। स्वर्ण ही नहीं, स्वर्णकार भी वे ही हैं, स्टॉकिस्ट भी वे ही हैं, कसौटी भी वे ही हैं और कैटलॉग भी वे ही हैं। इतना अभिन्न संबंध होते हुए भी हम इसे समझ नहीं पाते यह कितना

बड़ा आश्चर्य है। अपनी माता, अपने पिता या पितामह के साथ अभिन्नता का अनुभव करने में तो हमें कोई तकलीफ नहीं होती। किसी विशेष ज्ञान की जरूरत नहीं होती फिर जो एक साथ ही माता, पिता और पितामह भी हैं उसके साथ यह दूरी क्यों?

इसका कारण है जन्म जन्मातरों में अर्जित की गई हमारी वासनाएं, जिन्होंने हमारे और भगवान के बीच मोटा पर्दा डाल रखा है। इन वासनाओं के चक्कर में हमने कभी इस रिश्ते की गहराई को अनुभव करने का प्रयत्न ही नहीं किया। जैसे एक उच्छृंखल लड़का खेलने, नाचने, गाने, नशा करने की वासना रखता है और उन्हीं में डूबे रहना चाहता है। वह अपने माता पिता का मुख देखना ही नहीं चाहता। वह तो उन्हें अपने सुख का बाधक समझता है, उनकी रोक को अन्याय मानता है और पिता को कहना पड़ता है बेटा मैं तुम्हारा शत्रु नहीं, तुम्हारा बाप हूं। मुझे समझने की कोशिश करो। मैं तुम्हारा भला चाहता हूं। तुम मेरी बात मानो। बेटे को पता तो है ही कि वह उसका बाप है। लेकिन इस पवित्र रिश्ते को उसने मन से स्वीकार नहीं किया है। अतः 'बाप है' मान लेने से उसे कोई लाभ नहीं होगा।

हम भी ऐसी ही दुखद स्थिति में पहुंच चुके हैं और भगवान हमें प्रेम से समझा रहे हैं- देखो मैं तुम्हारा पिता ही नहीं, माता भी हूं, पितामह भी हूं। क्या हम इस रिश्ते को गहरा बनाने को तैयार हैं? केवल मानकर छोड़ देंगे तो उससे कुछ कल्याण नहीं होने वाला।

माता पिता मानकर भी तुम्हें अपनापन नहीं महसूस होता तो अपना आश्रय दाता मान लो, मित्र मान लो, कुछ भी मानो तो सही। एक बार मेरी ओर आंख उठाकर देखो तो सही। भगवान अगले श्लोक में अपने बारह रूप अर्थात् जीव जगत के साथ बारह प्रकार के संबंध बता रहे हैं।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ।।१८।।

मैं ही (परम) गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, मित्र, प्रारम्भ, अन्त, स्थान, निधान, और अविनाशी बीज हूं।

समस्त चराचर जगत, सभी प्राणियों-पशुओं, पेड़-पौधों और पदार्थों की उत्पत्ति परमात्मा से हुई है। यदि स्वर्ण से हम गहने बनाते हैं तो मूल स्वर्ण की मात्रा कम होती जाएगी लेकिन परमात्मा तो ऐसा बीज है जो अनन्त है, अनन्त से अनन्त भी निकाल लिया जाता है तो भी अनन्त ही बचता है। इसीलिए सारी सृष्टि का रचना कर लेने पर भी घटता नहीं अत: उसे अव्यय बीज बताया गया है।

परमात्मा ही आकाश की भांति सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को धारण किए हुए हैं अत: वे निवास है, शरण हैं और स्थान हैं।

परमात्मा ही सबके पालक हैं अत: उन्हें भर्ता और प्रभु बताया गया है। जैसे स्वप्न जगत की सृष्टि और लय मनुष्य में ही हो जाती है उसी प्रकार इस विश्व की सृष्टि और लय उन्हीं में होता है अत: वे प्रभव और प्रलय बताए गए।

हमारे देह धारण का उद्देश्य परमात्मा को प्राप्त करना ही है अत: वे परम गति भी हैं। वे साक्षी के रूप में समस्त क्रियाओं का अवलोकन करने वाले हैं।

अब रहा एक शब्द 'सुहृत्', अर्थात् मित्र। अभी तक हमने परमात्मा का स्वरूप समझने के लिए स्वर्ण का, समुद्र और आकाश का उदाहरण लिया। स्वर्ण गहनों का मित्र नहीं होता। समुद्र लहरों का मित्र नहीं होता, न ही आकाश वायु का मित्र होता है। फिर भगवान स्वयं भी यहीं अपने को साक्षी बता रहे हैं। जब वे हमारी क्रियाओं से निर्लिप्त हैं तो मित्र कैसे होंगे। मित्र तो सुख-दुख में संग निभाने वाला होता है। वह तो हमारे साथ हंसता है और हमारे साथ रोता है। और भई! किसी का मित्र होगा भी तो पता नहीं पर कम से कम मुझे तो अपना मित्र कभी नहीं लगता। कभी भी दुख में उसने मेरा साथ नहीं दिया, मेरे आंसू नहीं पोंछे। कैसे मानूं मैं उसे अपना मित्र?

भगवान हमारे साक्षी होते हुए भी हमारे परम मित्र हैं, असाधारण मित्र हैं। साधारण मित्रों की सलाह हम न मानें, उन्हें डांट-डपट दें तो वे साथ छोड़ देंगे लेकिन भगवान फिर भी सहृदय रहते हैं, हमें संभालते हैं, हमें सलाह देते हैं, हमारे साथ रहते हैं। एक घटना देखेंगे तो समझ में आ जाएगा।

गोपाल राव की नौकरी छूट गई। दूसरी नौकरी मिल ही नहीं रही

है और घर की सारी पूंजी खर्च हुई जा रही है। कल बच्चे को पिलाने के लिए दूध भी नहीं। राव अपने घर के सामने रहने वाले सेठजी के घर चोरी करने का निश्चय करता है क्योंकि अभी घर के सभी लोग कहीं बाहर गए हुए हैं, घर में मात्र दो-चार नौकरों को छोड़कर कोई नहीं, मौका अच्छा है। राव भगवान को समझाता है-'भगवान देखो! मैंने आज तक ऐसा काम नहीं किया। मेरे खानदान भर में किसी ने ऐसा काम नहीं किया। तुम तो मुझे अच्छी तरह जानते हो। मैं ऐसी नीयत का व्यक्ति ही नहीं हूं।' कुछ देर बाद उसे अपने अन्दर एक आवाज उभरती जान पड़ती है- 'तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए।'

गोपाल राव- 'चुप रहो।'

सच्चा मित्र तो अपमानित होने पर भी साथ नहीं छोड़ता न। भगवान भी चुपचाप उसकी योजना बनाने में साथ निभाते हैं।

रात को राव मकान की ओर बढ़ता है। फिर वही आवाज- 'राव! अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा। लौट चलो।'

'चुप रहो'

'ठीक है। लेकिन रोशनी में क्यों चल रह हो? अंधेरे में धीरे-धीरे पिछले दरवाजे की ओर बढ़ो।'

राव चोरी के प्रयत्न में सफल नहीं होता। लोग जाग कर उसके पीछे दौड़ते हैं। दौड़ते समय राव का यह पर मित्र साथ दौड़ रहा है।

'राव! इस पतली गली में घुसो, यहां पकड़े जाने का खतरा कम है।'

फिर भी राव पकड़ा गया। पिटाई होने लगी।

'राव! मरने का बहाना करके गिर जाओ।'

इस बार मित्र की सलाह काम कर गई। सब उसे छोड़कर भाग गए।

'राव! मैंने पहले ही कहा था ऐसा काम मत करो। खैर जो हुआ सो हुआ, अब आगे ऐसा विचार भूल कर भी मन में मत लाना।'

पग-पग पर भगवान हमें सलाह देते हैं, मार्ग बताते हैं पर हम उसे मानने से साफ इन्कार कर देते हैं। अपने मित्र को 'शट-अप' कहते रहते

हैं लेकिन यह तो परम सुहृत् है। सारे रिश्ते-नाते टूट जाते हैं, सारे बन्धु-बान्धव मुंह मोड़ लेते हैं पर यह मित्र कभी साथ नहीं छोड़ता।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ।।१९।।

हे अर्जुन, मैं ही (सूर्य के रूप में) तपता हूं, जल को ग्रहण करता हूं औ वर्षा के रूप के रूप में उसे बरसा देता हूं। अमृत और मृत्यु तथा सत् और असत् भी मैं ही हूं।

एक ही परमात्मा सृष्टि के विभिन्न रूपों में भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यक्त होता है। जैसे बिजली, रेडियो, हीटर, बल्ब आदि में क्रमशः आवाज, ताप, प्रकाश के रूप में व्यक्त होती है। हम कहते हैं कि हीटर ताप दे रहा है पर अच्छी तरह समझते हैं कि हमें मिलने वाला ताप वास्तव में बिजली का ही एक रूप है। हीटर तभी कार्य कर सकता है जब उसमें विद्युत धारा प्रवाहित होती हो। इसी प्रकार सूर्य ताप देता हुआ जान पड़ता है लेकिन वास्तव में यह शक्ति परमात्मा की ही है। वही ताप के रूप में अभिव्यक्त होकर पृथ्वी के जल को वाष्प के रूप में ऊपर खींचता है और बादल बना कर पुनः बरसाता है जिससे पृथ्वी पर के प्राणियों को जीवन प्राप्त होता है। इस प्रकार वही परमात्म शक्ति हमारी जीवनदायिनी शक्ति है। हमारा जीवन उसी परमात्मा की अभिव्यक्ति है।

भगवान का कहना है कि जीवन ही नहीं, मृत्यु भी मैं ही हूं, सत् ही नहीं असत् भी मैं ही हूं। सत् का अर्थ है वह जो अतीत में था, वर्तमान में भी है, और भविष्य में भी वैसा ही रहेगा। इस नाते हमारी चेतना सत् है और परिर्वतनशील शरीर असत्। किन्तु यह असत् शरीर भी सूर्य परमात्मा और वर्षा परमात्मा की ही देन है, वर्ना न तो फल फूल अनाज उगे, न शरीर बने। चेतना की अपेक्षा शरीर को असत् कहना वैसा ही है जैसे जागृत जगत की अपेक्षा स्वपन को मिथ्या कहना। स्वप्न हमें कुछ देर के लिए दिखलाई देता है और विलीन हो जाता है इसलिए हम उसे झूठा कह देते हैं लेकिन वह हमारी अपनी ही एक अभिव्यक्ति होती है। इसी प्रकार परमात्मा को हम

सत् स्वरूप कहते हैं पर वास्तव में असत् भी वही है। जीव में चेतना तो सत् है और रसायनों से बना नाशवान शरीर असत् है। लेकिन यह असत् भी है परमात्मा ही।

इस प्रकार परमात्मा को सर्वत्र सभी रूपों में जानने वालों के लिए तो सब कुछ परमात्मा ही है- उनकी साधना का अंतिम फल, अंतिम गति वासुदेव ही हैं, लेकिन अधिकांश सत्कर्मी भी सत्कर्म इस भावना से करते हैं कि उन्हें पुण्य मिलेगा। वेदों में कर्मकाण्ड अर्थात् यज्ञ, पूजा, हवन इत्यादि की विधियां बताई गई है जिससे स्वर्ग की प्राप्ति हो।

ऐसे पुण्यकर्मियों की गति भगवान अगले दो श्लोकों में बताते हैं:-

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ।।२०।।

तीनों वेदों के ज्ञाता, सोमरस के पान करने वाले, पापों को धो डालने वाले जब यज्ञ द्वारा स्वर्ग प्राप्ति की प्रार्थना करते हैं तब सुरेन्द्रलोक में पहुंचकर वे देवताओं को उपलब्ध भोगों को भोगते हैं। और फिर,

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ।।२१।।

विशाल स्वर्ग लोक को भोग लेने के पश्चात् पुण्य शेष हो जाने पर वे फिर मृत्यु लोक में आते हैं। इस प्रकार तीनों वेदों के अनुसार चलने वाले काम-कामी पुरुष जाने-आने (गतागतं) की गति को प्राप्त होते हैं।

इस श्लोक में तीन वेदों की बात कही गई है जब कि हम जानते हैं कि वेद चार हैं- महाभारत के काल में चतुर्थ यानि अथर्ववेद को लेकर बड़ा विवाद था। उसमें जादू टोने वाली बाते हैं और अनेक श्रोत्रिय उसे श्रुति के रूप में मान्यता देने को तैयार नहीं थे। यह विवाद इतना बढ़ चुका था कि धर्म विखंडन की कगार पर पहुच चुका था और महर्षि वेदव्यास ने इस विखंडन को रोकने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। उस काल में वैदिक

ज्ञान को त्रयी विद्या कहा जाता था।

वैसे तो उपनिषद् भी वेद के ही भाग हैं जिनमें परमात्मा के स्वरूप का वर्णन है और उसी परम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्रेरणा दी गई है तथा साधना विधि भी निर्देशित की गई है लेकिन उपनिषद् का अध्ययन तो मुट्ठी भर संन्यासी ही करते थे। साधारण व्यक्ति या राजकुल के कुमारों को भी वेद की शिक्षा के रूप में कर्मकांडों का ही ज्ञान कराया जाता था अत: जब भगवान वेदों की आलोचना करते हैं तब वे वास्तव में कर्मकांडों की आलोचना करते हैं। उपनिषदों के तो दूध को उन्होंने दुहकर गीता के रूप में अर्जुन को पान कराया ही है।

वैदिक युग में पूजाविधि थी यज्ञ। यज्ञ द्वारा ही इच्छित फल की प्राप्ति के लिए देवताओं का आह्वान किया जाता था। यज्ञ के अंत में एक विशेष वनस्पति के रस का पान किया जाता था जिसे सोम रस कहते थे। अत: सोमपा: अर्थात् 'सोमरस का पान करने वाले' का अर्थ है यज्ञ करने वाला। यज्ञ करना पुण्य का कार्य कहा जाता था और पुण्य के रूप में यज्ञकर्ता स्वर्ग प्राप्ति यानी अबाध सुख-भोगों की कामना रखता था। जो व्यक्ति किसी कामना से अत्यंत परिश्रम करता है उसे अपने परिश्रम का फल अवश्य मिलता है। इसी प्रकार यज्ञ करने वालों की भी कामना पूर्ति होती है और उन्हें सुरेन्द्रलोक की प्राप्ति होती है। किंतु पुण्य की कीमत पर कुछ सुख भोग मिलेंगे तो पुण्य 'खर्च' तो होंगे ही। पुण्य शेष हो जाने पर उस व्यक्ति को पुन: मृत्यु लोक में धकेल दिया जाता है। वह पुन: पुण्य कर्म करता है, फिर से स्वर्ग प्राप्त करता है। इस प्रकार जिसकी अन्तर्दृष्टि सुख भोग से ऊपर उठ नहीं पाती उनका आना-जाना लगा रहता है। अतएव भगवान ने सकाम पूजा की आलोचना की है। सकाम पूजा इच्छित फल देकर अल्पकाल के लिए सुखी भले बना दे, यह सुख अंत में दुख में परिणत होगा ही और वह जीवन पर्यन्त सुख-दुख के भंवर में फंसा रहेगा।

आधुनिक संदर्भ में मिनिस्टर आदि ही देवता हैं। जिस प्रकार अलग-अलग कार्यों के लिए अलग-अलग देवताओं को प्रसन्न किया जाता था उस प्रकार अब अलग-अलग विभागों के लिए अलग-अलग मंत्रियों की भेंट पूजा कर उन्हें प्रसन्न करना पड़ता है। देवताओं के प्रसन्न होने पर फल

की प्राप्ति हो जाती है। सुरेन्द्र लोक वह इलाका है जहां मंत्रियों के आवास है। वहां पावर न कट होता है न पानी की कमी। भयंकर गर्मी के दिनों में जब साधारण जनता एक-एक बूंद पानी के लिए तरसती है आप अपने बगीचे में जितना चाहे पानी दे सकते हैं और मुलायम मखमली अमेरिकन घास के लॉन पर आनंद ले सकते हैं।

पुण्य कर्म करके स्वर्ग जाना जैसे छुट्टियों में हिल स्टेशन जाना। व्यापार में खूब मेहनत करने पर जब पाकेट में पुण्य रूपी नोट जमा हो जाते हैं तब अपने शहर की गर्मी असह्य हो जाती है और हम हिल स्टेशन जाते हैं। वहां जाकर फाइव स्टार में ठहरेंगे या टूरिस्ट लॉज में, यह हमारी पाकेट के 'पुण्य' की मात्रा पर निर्भर करता है और 'पुण्य' क्षीण हो जाने पर हम वापस अपने शहर की तंग गलियों में दुकानदारी करने पहुंच जाते हैं।

पुण्य कर्म भी सत्कर्म है। उससे दूसरों का, समाज का भी भला हो सकता है। अच्छे कर्म का फल अच्छा मिलेगा ही। बात यही है कि इन सत्कर्मों को करते समय हमारी भावना रहती है- हमें पुण्य मिले। हम निष्काम नहीं हुए। भगवान भी हमें मनोवांछित फल देते हैं लेकिन सीमित कर्म का असीम फल तो हो नहीं सकता अतः उस फल के भोग लेने के बाद फिर कर्म करने की आवश्यकता आ जाती है।

लेकिन नवम् अध्याय की राज विद्या में तो भगवान ऐसे कर्म का ज्ञान दे रहे हैं जिसका फल अनन्त है। पर यह अनन्त फल तब मिलता है जब हम स्वयं फल की लेश मात्र भी कामना न करें। भगवान कहते हैं-

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।।२२।।

जो अन्य किसी के विषय में न सोचते हुए केवल मेरी उपासना करते हैं, जो सदा अपने ऊपर संयम रखते हैं ऐसे युक्त पुरुषों के योगक्षेम का वहम मैं करता हूं।

यह श्लोक गीता के बिल्कुल मध्य में स्थित है। यह अत्यन्त सारगर्भित,

अत्यन्त महत्वपूर्ण और विचारणीय है। यह जितना महत्वपूर्ण आध्यात्मिक साधकों के लिए है उतना ही अनुकरणीय सांसारिक सफलता की अकांक्षा रखने वालों के लिए। हम दोनों ही दृष्टिकोण से इसका अर्थ समझने का प्रयत्न करेंगे।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से तो यह भक्ति के चरम उत्कर्ष का वर्णन करता है जब भक्त के मन में भगवान के प्रति अनन्यता का भाव आ जए। संसार की समस्त उपलब्धियों के प्रति उसका आग्रह बिल्कुल समाप्त हो जाए। उसके प्राणों का आधार केवल प्रभु हो। उनके अलावा उसे किसी की चाह नहीं हो। वह केवल उनको ही पाना चाहे। ऐसा व्यक्ति के विचार किसी अन्य दिशा में नहीं जाते। वह पूरे मन और लगन के साथ प्रभु की उपासना करता है, अपने चित्त को उनकी मनोहर छवि में लगा रखता है। उसे किसी पुण्य की आकांक्षा नहीं होती। उसे स्वर्ग लोक का आकर्षण नहीं होता, उसे संसार में यश-मान-प्रसिद्धि की भी चाह नहीं होती, अपने कर्मों के फल का कोई विचार उसके मन में नहीं आता, उसे तो समस्त कर्मों के फलस्वरूप केवल मुरली मनोहर को पाने की, अपना बनाने की चाह होती है। वह नित्य योगी होता है अर्थात् उसके मन के तार निरन्तर प्रभु से जुड़े होते हैं।

भगवान कहते हैं ऐसे भक्त, ऐसे उपासक, ऐसे नित्ययोगी के योग क्षेम का जिम्मा मैं स्वयं लेता हूं। योग का अर्थ है अप्राप्त की प्राप्ति और क्षेम का अर्थ है प्राप्त की सुरक्षा। तात्पर्य यह है कि भगवान के प्रेम में मतवाला भक्त जब स्वयं अपनी आवश्यकताओं की परवाह छोड़ देता है तो भगवान स्वयं उसके व्यवस्थापक बनते हैं, उसकी आवश्यकता की वस्तुओं की सुरक्षा भी करते हैं- यानी बिन मांगे मोती मिले।

हम इसका सीधा सा अर्थ लगा लेते हैं कि भगवान अपने भक्तों को कष्ट नहीं होने देते। अपने को हम उच्च श्रेणी का भक्त मानते हैं और जब कष्ट मिलता है तो चीख-पुकार मचाते हैं- 'हे भगवान! मुझे ही इतना दुःख क्यों?'

दो बातों पर विचार करें। पहली बात अनन्यता की है। यदि इस श्लोक का अर्थ समझकर हम इसलिए भगवान की भक्ति करने लगें कि भगवान हमारे योग-क्षेम का निर्वाह कर देंगे तो फिर अनन्यता कहां हुई? हमारा लक्ष्य

तो योग-क्षेम हो गया, भगवान को हमने उसका साधन बना लिया। ध्यान रहे ऐसी भक्ति को राजभक्ति नहीं कहते। अनन्यता की शर्त भक्ति के साथ भगवान ने पहली लगाई है।

दूसरी बात यह है कि हम साधारण संसारी के योग-क्षेम की एक परिकल्पना होती है जैसे एक बच्चे के योग-क्षेम की कल्पना यही है कि खेल की सामग्री उपलब्ध रहे और उसे निर्बाध रूप से खेलने दिया जाए। हम समझते हैं कि हमें कम से कम पेट भर खाने, तन पर कपड़े और रोगमुक्त काया तो अवश्य मिले। हमारे कुटुम्ब में कहीं कोई अनिष्ट-अमंगल न हो।

लेकिन लीलामय भगवान की योग-क्षेम की परिकल्पना हम संसारियों की परिकल्पना से मैच नहीं भी कर सकती है। हम तो उस खेल के मतवाले बच्चे के भांति हैं जो गंदे कपड़े उतारना ही नहीं चाहता, जिसे नहाना अच्छा ही नहीं लगता। उसे धूल में खेलना ही अच्छा लगता है तो उसकी प्यारी मां क्या करेगी? क्या वह नहीं समझेगी कि बच्चे के मैले कपड़े उतारने जरूरी हैं, क्या वह नहीं समझेगी कि भले यह रोए, इसे रगड़-रगड़ कर नहलाना अति आवश्यक है, क्या वह नहीं समझेगी कि धूल में खेलने की आदत छुड़ाना जरूरी है?

दयालु करुणावरुणालय भगवान ही ठीक-ठीक निर्णय ले सकते हैं कि उसके भक्त को क्या मिलना चाहिए क्या नहीं। हम उनके स्तर पर पहुंच कर सोचने की क्षमता नहीं रखते और किसी भक्त को कष्ट पाते देख भगवान की दयालुता पर संदेह करने लगते हैं। हम भगवान के दृष्टिकोण से तो क्या सोचेंगे, भक्त के दृष्टिकोण से भी नहीं सोच पाते। अपनी अल्पबुद्धि से हम सोचते हैं कि मीराबाई के साथ अन्याय हुआ, सुदामा को दरिद्रता भोगनी पड़ी, तुकाराम की सुशीला पत्नी तो मर गई और कर्कशा के साथ जीवन निर्वाह करना पड़ा। लेकिन यह सोचकर देखें कि मीराबाई, सुदामा, नरसी मेहता और तुकाराम इन अभावों, अत्याचारों के बीच भी जिस मस्ती में डूबे रहते थे उसका लेश मात्र भी क्या हम अपार वैभव और सुख-सुविधा के साधनों के बीच अनुभव कर पा रहे हैं?

भगवान को भगवान के लिए प्यार करें। उन्हें अपना, बिल्कुल अपना, नितान्त अपना, पूरी तरह अपना बनाएं। इसके बाद हमारा जीवन कमबख्त

हमारा रह ही कहां जाएगा? हमें सचमुच क्या मिलना चाहिए यह भला हम अल्पज्ञ उस सर्वज्ञ से ज्यादा अच्छी तरह समझ सकते हैं? भक्ति में अपनी आवश्यकताओं की ओर से आंख मूंदकर निश्चिंत होना सीख लें, हम सोएंगे वह जागेगा।

अब एक बिल्कुल भिन्न दृष्टिकोण से इस श्लोक का रहस्य समझने का कोशिश करें। इस श्लोक में भौतिक जगत के सुखों के लिए पसीना बहाते और परिश्रम करते व्यक्ति के लिए अचार-संहिता है। इनका पालन करें तो वह अवश्य सफल होगा।

एक बार पुनः श्लोक देखें-

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।।२२।।

सामान्य व्यक्ति के लिए इस श्लोक का संदेश यह है कि जो तुम चाहते हो वह मिलेगा जब तीन शर्तें पूरी करोगे-

१. **अनन्यता-** अपने कार्य और लक्ष्य के प्रति अनन्यता होनी चाहिए। एकाग्र होकर पूरी संकल्पशक्ति लगाने से ही सफलता हासिल होती है। हम लोगों के विचार तो एक ही चैनल में ज्यादा समय तब टिक नहीं पाते, इधर उधर भटकते रहते हैं। विचार भटकते हैं तो लक्ष्य भी बदलता है। लक्ष्य बदलेगा तो लक्ष्य की प्राप्ति का संकल्प कैसे दृढ़ रहेगा। संकल्प शक्ति ही कर्म की प्ररणा होती है, यही वास्तव में कर्म को शक्ति प्रदान करती है और शक्ति का स्रोत ही नष्ट भ्रष्ट हो जाए तो कर्म कैसे प्रभावशाली होंगे? इस प्रकार 'अनन्याश्चिन्त' शब्द हमें दिव्य संदेश देता है- एकाग्र चित्तता के साथ विचारों का निश्चित लक्ष्य की ओर प्रवाह हो तो लक्ष्य अवश्य प्राप्त होगा।

२. **परि-उपासना-** मात्र संकल्प या विचारों से भी कुछ होने का नहीं। ऐसे बहुतेरे नवयुवक मिलेंगे जो रात दिन एक ही सपना देखते हैं लेकिन कर्म क्षेत्र में कूदकर अपनी पूरी सामर्थ्य के अनुसार मेहनत नहीं करना चाहते। उपासना का अर्थ है पूजा अर्थात् श्रम। इसमें परि उपसर्ग लगने से पर्युपासना

अर्थात् परिश्रम बन जाता है जिसका अर्थ है ऐसा श्रम जिसमें इच्छित फल की प्रप्ति के लिए कोई भी काम बाकी न छोड़ा जाए।

३. नित्ययुक्ति अर्थात् आत्मनियंत्रण– जब कोई उत्साही युवक लक्ष्य के प्रति अनन्यता के साथ परिश्रम करता है तो बहुत बार बहुत सी परिस्थितियां आती हैं जो उसे बहका देती है। संसार की वस्तुओं, व्यक्तियों के मोह में वह कर्मच्युत हो जाता है या उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है अथवा बर्बाद हो जाती है। परीक्षा के लिए दृढ़ संकल्प के साथ मेहनत में लगे विद्यार्थी के घर में टी वी चलता ही है। उसका अपने ऊपर इतना नियंत्रण, संयम और अंकुश होना चहिए कि वह अपने पथ से भटके नहीं, तभी सफलता सेहरा पहनाएगी।

सामान्य व्यक्ति का तनाव, समस्याओं, संघर्ष, दु:ख, कष्ट आदि से भरा होता है। अलग-अलग व्यक्ति के लिए ये अलग-अलग होती है लेकिन इन सबको दो भागों में बांटा जा सकता है। १. पाने के लिए संघर्ष और, २. पाये हुए को सुरक्षित रखने का प्रयत्न। ये दोनों जीवन की शांति और आनंद को चीथड़े-चीथड़े कर डालते हैं। यदि किसी व्यक्ति को ये दोनों चिंताएं नहीं हैं तो वह सचमुच ही अत्यन्त भाग्यशाली और सुखी है।

भगवान का वादा यानी सृष्टि संचालक का नियम है कि जो इन तीनों नियमों का पालन करेगा उसे सफलता के विषय में चिंतित होने की आवश्यकता नहीं होगी।

अनन्यता के साथ परमात्म चिंतन करने वाले के बारे में बताने के बाद अब भगवान वैसे भक्तों बारे में बताने जा रहे हैं जिनकी श्रद्धा बदलती रहती है और कभी किसी देवता को पूजने लगते हैं, कभी किसी देवता को।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ।।२३।।

यहां तक कि जो भक्त श्रद्धा के साथ दूसरे देवताओं को पूजते हैं, हे कौन्तेय, वे भी मुझे ही पूजते हैं (किन्तु) अविधिपूर्वक।

संसार में विभिन्न विचार धाराओं के, विभिन्न रुचियों के व्यक्ति हैं, सब एक ही स्वरूप में एक ही विधि में श्रद्धा रखें, यह तो हो ही नहीं सकता। इस श्लोक का अर्थ भी यह नहीं लेना चहिए कि जो अर्जुन के सारथी बने कृष्ण की पूजा करता है वही सही काम करता है, जो जटाजूटधारी शंकर को पूजता है या पवनपुत्र हनुमान की पूजा करता है वह सब गलत है।

गीता तो अद्वैतवाद को प्रतिपादित करती है। एक ही ब्रह्म सब में व्याप्त है। वही मच्छर में, वही हाथी में और वही मानव में हैं तो वही देवताओं में भी क्यों नहीं होगा? जब जन सेवा को ही जनार्दन सेवा कहते हैं, दरिद्र को ही नारायण मानते हैं तो देवताओं की पूजा गलत क्यों कही जा रही है?

वास्तव में गलत हमारा इष्ट स्वरूप नहीं बल्कि भाव है। हम किसी को पूजें, पशु को, मानव को, जनता जनार्दन को, दरिद्र नारायण को, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु या राम, कृष्ण हनुमान को, हमारे भाव में एक ही सच्चिदानन्द परमात्मा होना चाहिए जो शिव में भी है, राम में भी, हनुमान में भी और सूर्य, चन्द्र आदि देवताओं में भी। लोक सेवा करते वक्त भी हमारा भाव यही रहे कि हम घट-घट व्यापी भगवान की पूजा कर रहे हैं, निर्धन भूखे को रोटी खिलाते वक्त भी हमारे हृदय में यही भाव रहे कि हम तो अपने आत्म स्वरूप प्रभु को ही नैवेद्य चढ़ रहे हैं, तब तो सभी प्रकार की पूजा सेवा 'विधिपूर्वक' मानी जाएगी। इसके विपरीत यदि हम इन्हें पृथक-पृथक मान लेते हैं, जब हम सोचने लगते हैं कि धन तो लक्ष्मी मैया ही दिलाएगी, शिव की पूजा करके तो कंगाल बनना है, तब हमारी पूजा परमपिता परमात्मा की पूजा नही रहती, यह तो अपनी कामनाओं की पूजा हो जाती है अतः भगवान इसे अविधिपूर्वक कहते हैं।

गाड़ी गलत ढंग से चलाते हुए पकड़े जाने पर हम पुलिस को पचास रुपये की पूजा द्वारा प्रसन्न कर हम अपना काम निकाल लेते हैं। यह अविधि पूर्वक पूजा है। पुलिस की शक्ति वास्तव में सरकार की शक्ति है। पुलिस को दिया जुर्माना सरकार के खाते में जमा होना चाहिए पर हमने पुलिस को सरकार से अलग कर दिया और गलत ढंग से अपना काम निकाल लिया।

भगवान की सलाह है- 'तुम अलग अलग देवताओं की पूजा जब किसी खास खास कामनाओं के वशीभूत होकर करते हो तो गलत काम करते

हो क्योंकि यह पूजा तुम्हें आनंद के विशाल भवन तब नहीं पहुंचा सकती यह तो अंधकार पूर्ण तंग गलियों में भटकाती रहेगी।

सभी देवताओं की पूजा एक ही भगवान की पूजा कैसे हो सकती है इस बात को स्पष्ट करते हुए भगवान कहते हैं-

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ।।२४।।

मैं ही सब यज्ञों का भोक्ता और प्रभु हूं लेकिन इस तत्व को जो नहीं जानते उनका पतन होता है।

सभी देवताओं की वास्तविक शक्ति परमात्मा की ही शक्ति है अत: यज्ञ किसी भी देवता के लिए किया गया हो, वास्तव में पूजा उसी परमपिता ही होती है। किन्तु देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ करने वाले सीमित कार्य के लिए सीमित शक्ति की पूजा करते हैं इसलिए उसके अनन्त गौरव को नहीं समझ पाते। वे यह नहीं समझ पाते कि लक्ष्मी पति भी वही हैं और शक्ति पति भी वही हैं। नारायण को न मानकर केवल लक्ष्मी की पूजा करने वाले यह नहीं समझते कि वह तो नारायण के श्री चरणों की चेरी है और यह चपला स्थिर केवल वहीं रहती हैं जहां स्वयं नारायण का वास है। इस प्रकार हम सत्य को अनदेखा कर भ्रमलोक में जीते हैं। हमारी आस्था फुटबाल की तरह इधर उधर कभी किसी कभी किसी के पैरों की ठोकर खाती रहती है।

व्यवहारिक जीवन में देखें। हमें ऊंचा उठना है। हम कभी किसी शक्ति को खुश करते हैं, कभी किसी के रुतबे, किसी की पहुंच, किसी की जान-पहचान, किसी के धन, किसी की क्षमता का फायदा उठाने के लिए तरह-तरह के उपाय (यज्ञ) करते रहते हैं लेकिन सभी प्रकार की शक्तियों की शक्ति आत्मा की पूजा यानी आत्म उत्थान का प्रयत्न नहीं करते। अपने आप को सुधारने, ऊंचा उठाने का प्रयत्न नहीं करते। स्वयं को उन्नत किए बिना जो ऊंचा उठना चाहते हैं उनकी उन्नति यदि हो भी जाए तो क्षणिक होती

है, कुछ समय बाद आधार विहीनता के कारण वही उन्नति पतन में बदल जाती है।

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ।।२५।।

देवों को पूजने वाले देवों के पास जाते हैं, पितरों को पूजने वाले पितरों के पास, भूत यानी भौतिक पदार्थों को पूजने वाले पदार्थों को प्राप्त करते हैं और मुझे पूजने वाले मेरे पास आते हैं।

यह तो संसार का नियम है ही, जैसे हमारे विचार होंगे वैसा ही हमारे चारों ओर का वातावरण होगा। इसी बात को यहां यह कह कर बताया गया है कि हम जिसे पूजेंगे उसे ही पाएंगे। हमारे चारों ओर वही होगा जिसकी हम जाने अनजाने उपासना करते हैं। वातावरण हमें नहीं बनाता, हम वातावरण को बनाते हैं और यदि हम वातावरण को बदलना चाहते हैं तो हमें अपने आप को, अपनी विचारधारा को या अपने जीवन मूल्यों को बदलना होगा।

नियमित रूप से मित्र मण्डली के साथ बैठ कर शराब पीने वाले व्यक्ति के गुर्दे खराब हो गए और डाक्टर की बड़ी चेतावनी पर उसने शराब पूरी तरह छोड़ देने का दृढ़ निर्णय कर लिया। दूसरे दिन उसके घर महफिल जुटाने वालों ने उसके निश्चय को बदलने का भरपूर प्रयत्न किया। टस से मस न होने पर धीरे-धीरे वे सोचने लगे- मुफ्त का माल कब तक बेशर्मी से उड़ाते रहेंगे। उनकी संख्या घटते-घटते शून्य हो गयी। वह व्यक्ति खाली समय पुस्तकें पढ़ने और बच्चों के साथ खेलने, बातें करने में गुजारने लगा। उसके घर का वातावरण जहां पत्नी की चिकचिक और बच्चों की कुंठाजनित प्रतिक्रियाओं से पूरित रहता था वहां सुख, शांति, समृद्धि सभी आ गयी।

जिस ओर हमारा स्वयं का झुकाव होगा उसी का हम ध्यान करेंगे और जिसका ध्यान करेंगे- देवता, पितर या भौतिक पदार्थ, वही हमें मिलेगा। कुछ लोग अपने रिश्तेदारों की यादों में डूबे रहते हैं, उन्हें सपने में अपने मृत रिश्तेदार ही दिखलाई देते हैं और जागते में भी वे उन्हीं में खोए रहते हैं। कुछ को पैसे और भोग के अलावा और किसी चीज से मतलब नहीं।

उनका चिंतन बिंदु पैसा होता है- केवल पैसा। नैतिकता, भलमनसाहत या परोपकार की बात जिनके सपने में भी नहीं झांकती उनकी 'उन्नति' देखिए! संगमरमर के महल उनके नहीं तो क्या उसके होंगे जो यह सोचता है कि मेरा भाई अभावग्रस्त न हो!

स्मरण रहे कि देवता, पितर आदि की उपासना स्वरूप से त्याज्य नहीं है लेकिन संसार की तुच्छ कामना में फंस कर उनके फेरे में पड़ने वाले बहुत अनर्थ को प्राप्त हो जाते हैं। इनके प्रति भगवद् बुद्धि हो, निष्काम भाव से केवल उनकी पुष्टि के लिए उनकी सेवा पूजा की जाए तो भगवान की प्राप्ति हो सकती है। उन्हें भगवान से अलग मानना और सकामभाव रहना ही पतन का कारण है।

भगवान कहते हैं- जो तुम चाहो वही मिलेगा। भौतिक सुख चाहो या आध्यात्मिक सुख। लेकिन मनवांछित फल मिलता पूजने वालों को ही है, केवल सोचने वालों को नहीं।

हमारे साथ यही मुश्किल है। चाह तो बड़ी-बड़ी कर लेते हैं किन्तु उसके लिए परिश्रम करना नहीं चाहते। छप्पर फट कर पैसा बरसने की उम्मीद में बिछौने पर लेटे-लेटे शून्य नजरों से सीलिंग को ताकते रहेंगे या सोचेंगे- मेडिटेशन के लिए बैठते ही कुण्डली क्यों नहीं जाग जाती? विचार करें, हमें जो डिग्री पद आदि मिले हैं उसके पीछे कितने वर्षों की मेहनत है जो हमने सहर्ष स्वीकार की है। अध्यात्म के लिए हमने उसके अनुपात में कितना समय दिया? भगवान को पाना है तो उसकी भेंट पूजा तो करनी होगी।

लेकिन भेंट पूजा कर किसी को प्रसन्न कर लेना कोई आसान काम नहीं। कोई नगद नारायण से ही खुश होता है, कोई उपहारों से, कोई केवल जी हुजूरी से। भगवान कैसी भेंट स्वीकार करते हैं यह स्वयं ही बता रहे हैं-

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ।।२६।।

जो भी मुझे भक्ति पूर्वक पत्र, पुष्प, फल या जल अर्पित करता है उस शुद्ध अन्तःकरण भक्त के द्वारा भक्तिपूर्वक दिए गए उपहार को मैं खा लेता हूं।

सब जानते हैं कि जिसे हम प्रसन्न करना चाहते हैं उसका पद जितना ऊंचा होगा उसकी पूजा उतनी ही महंगी होगी। फिर सारे संसार के मालिक से ऊंचा तो कोई नहीं, उसे किस उपहार से हम प्रसन्न कर सकते हैं? दूसरी समस्या यह है कि जब सारा संसार उसी का है तो उसे दें भी क्या? उसे तो कोई उपहार देना तो ऐसा ही होगा जैसे कोई मेरे ही घर में सजा शो पीस उठा कर मुझे ही दे दे। क्या जगदीश्वर छप्पन भोग से प्रसन्न होंगे? क्या घी के दिये जलाने से उन्हें खुशी होगी?

भगवान यहां हमारी समस्या का समाधान करते हुए कह रहे हैं कि फूल, पत्ता, फल, जल जो कुछ भी **श्रद्धा** और **निष्कपटता** के साथ मुझे अर्पित किया जाता है उसे मैं प्रेम से ग्रहण करता हूं। जगतपिता जगदीश के लिए वस्तु का महत्व तो हो नहीं सकता। उनके लिए तो महत्वपूर्ण हमारे भाव हैं। जैसे थाली में रखें भोजन को चम्मच के सहारे मुंह में डाला जाता है, पकवान मुंह में पहुंच जाता है, चम्मच वैसा ही रह जाता है उसी प्रकार भगवान को हम कुछ चढ़ाते हैं तो वह तो चम्मच की भांति वैसा ही रह जाता है लेकिन हमारी भावना और प्रेम को भगवान तक जरूर पहुंचा देता है। भगवान तो प्रेम और भाव के ही भूखे हैं। इसीलिए उन्होंने इस श्लोक में 'अश्नामि' अर्थात् 'मैं खाता हूं' शब्द का व्यवहार किया है। वे केवल ग्रहण नहीं करते, उसे पाकर तृप्ति का अनुभव करते हैं।

लेकिन गौर करने योग्य दो बातें हैं इस भेंट के साथ। एक तो भक्ति की भावना दूसरा शुद्ध अंत:करण यानी कपट रहितता। ये दोनों जहां होते हैं भेंट वहीं स्वीकार की जाती है। हम भगवान को कुछ चढ़ाते या अर्पित करते कहां हैं? हम तो उन्हें खरीदना चाहते हैं। तुलसी पत्ते के साथ मिश्री का भोग लगाकर चाहते हैं कि शहर के सबसे बड़े आदमी बन जाएं। न तो हमारा अत:करण शुद्ध है न उसमें प्रेम जल छलकता है। भावहीनता के साथ सौदेबाजी के रूप में की गई पूजा को गीता मान्यता नहीं देती।

भगवान भक्ति और अपने अन्त:करण को शुद्ध करने का सरलतम उपाय राजयोग के नाम से बता रहे हैं। अब यह राज विद्या चरम बिंदु पर पहुंच गई है यानी अगले श्लोक में भगवान सरल से भी सरल उपाय बता रहे हैं। पत्ता तोड़ने या जल भरने की भी आवश्यकता नहीं है।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।।२७।।

हे कुन्तिपुत्र, तू जो भी करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है और जो कुछ तप करता है वह सब मेरे अर्पण कर दे।

प्रस्तुत अध्याय की भूमिका में ही कहा गया था कि राजयोग कर्म और भक्ति का मधुर मिलाप है। कर्म योग फल को त्याग कर कार्य करने की बात करता है और राजयोग फल को भक्तिपूर्वक भगवान को अर्पित कर देने की सीख देता है। कर्म योग में फेंका हुआ फल मानो राजयोग में बो दिया जाता है और अनन्तगुणा होकर प्राप्त हो जाता है।

इस श्लोक में विलक्षण बात बताई गई है कि भगवान की आराधना के लिए फूल या पत्ता तोड़ने तक की आवश्यकता नहीं। कोई नया पदार्थ नहीं जुटाना है, कोई नई क्रिया तक नहीं करनी है। हमारे द्वारा जो सामान्य लौकिक या परमार्थिक क्रियाएं हो रही हैं उनके साथ ईश्वरार्पण बुद्धि रखनी है। काम वही होगा, भाव बदल जाने से विचित्र परिवर्तन हो जाएगा।

हम जो कुछ भी करें, वह प्रभु को अर्पण हो अर्थात् यह भाव हो कि प्रभु के लिए कर रहे हैं। कुछ खाएं तब भी यह भाव हो कि प्रभु ही ग्रहण कर रहे हैं। किसी को कुछ दें तो भी यह भावना न आए कि मैंने अमुक व्यक्ति को देकर कितना बड़ा काम किया, बल्कि यही सोचें कि हमारा सौभाग्य है कि हम भगवान की सेवा के निमित्त बन पाए। यहां तक कि किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए हमें कठोर मेहनत (तप) करनी पड़े तब भी हृदय में प्रभु की ही याद बनी रहे।

सारांश यह है कि रोजमर्रा के साधारण सामान्य जीवन में भी ईश्वर शरणागति का भाव मिला देना है। दूध में शक्कर की भांति यह जीवन को मिठास से भर देगा। कई लोगों को संदेह हो जाता है कि सब कुछ भगवान को ही अर्पित कैसे किया जाए? क्या इसका अर्थ यह है कि हम जितने ग्रास खाएं उतनी बार बोला करें- भगवान मैं नहीं तुम खा रहे हो। हर काम को करते वक्त सोचते रहें- भगवान यह काम तुम्हारे लिए कर रहा हूं! दान देने

वक्त रटते रहे- भगवान देने वाले मैं नहीं तुम हो, तुम हो, तुम हो, तुम हो! इस प्रकार बोलने, सोचने या रटने में कोई सार नहीं। गीता में तो हर स्थान पर समझाया गया है कि कर्म से अधिक महत्व कर्म के पीछे की भावना का है। सामान्यत: एक भारतीय नारी जो कुछ करती है, पति-बच्चों की खुशी के लिए ही करती है। उनके लिए ही मानों जीती है पर क्या वह हर वक्त 'पतिदेवाय समर्पयामि' या 'पुत्राय समर्पयामि' कहती है? नहीं! पति के प्रति समर्पण का भाव उसके रोम में रोम में बसा है। विवाह के समय ही वह अपने हृदय में यह भाव प्रतिष्ठापित कर लेती है कि मैं अपने पति की हूं। इसके बाद पति का घर उसका घर, पति के परिजन उसके परिजन हो जाते हैं। सास-ससुर की सेवा वह पूरे मनोयोग से करती है क्योंकि वे उसके पति के माता-पिता हैं अत: उसे भी प्रिय है, उसके लिए भी सम्माननीय है।

ऐसा ही भाव प्रभु के साथ आ जाए तो हमारा जीवन खिल उठे। हर क्रिया को अर्पण करने जब भगवान कह रहे हैं तो किसी क्रिया विशेष को अर्पण करने की जरूरत नहीं, खुद को ही अर्पण कर दे। मैं प्रभु का हूं प्रभु मेरे हैं। बस इस एक रिश्ते को मानकर देखें। संसार भी प्रिय इसलिए होगा क्योंकि यह हमारे प्यारे भगवान का है। हमें खिलौने इस लिए प्रिय होते हैं क्योंकि वे हमारे प्यारे बच्चे के रहते हैं। एक आड़ी-टेढ़ी लकीरों से बनाई गई तस्वीर को हम बहुत ही सहेज कर रखते हैं क्योंकि यह हमारी प्यारी बिटिया ने बना कर हमें भेंट की है। जीवन में हमें जो कुछ मिला है वह हमारी नजरों में उत्कृष्ट नहीं भी है तो क्या हुआ, हमारे प्यारे भगवान ने हमें यही दिया है, हम इसे ही बड़ी जतन से सहजेंगे।

इस भाव से जीने का फल क्या होता है यह भगवान अगले श्लोक में बताते हैं-

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ।।२८।।

तुभ शुभ या अशुभ फल उत्पन्न करने वाले कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाओगे। संन्यास योग में दृढ़ होकर तुम मुक्ति पाकर मेरे पास आ जाओगे।

हर कर्म का कोई न कोई फल अवश्य होता है। वह शुभ भी हो सकता है अशुभ भी। कभी कभी तो हम अपनी समझ में अच्छा जानकर ही कार्य करते हैं पर फल अशुभ हो जाता है। कभी कर्म के पीछे की भावना उसके फल को शुभ अशुभ बना देती है। जैसे कोई व्यक्ति यदि शत्रुता के कारण किसी का हत्या कर देता है तो न्यायालय उसे सजा सुनाता है। यह हुआ उसके कर्म का अशुभ फल। लेकिन हत्या कार्य जब युद्ध क्षेत्र में एक सैनिक करता है तो शुभ फल के रूप में उसे वीरता पदक मिलते हैं।

फल शुभ हो या अशुभ, दोनों ही बन्धनकारी है। अशुभ फल के साथ-साथ पछतावे और ग्लानि की भावना बहुत बाद तक भी पीछा नहीं छोड़ती। इसी प्रकार शुभ फल हमारे हृदय में अहंकार और यश के प्रति लोलुपता पैदा कर देता है। फल की ये वासनाएं हमें उन्मुक्त जीवन नहीं जीने देती। इसलिए इन्हें कर्म बंधन कहते हैं।

किंतु 'सब कुछ भगवान के लिए हो रहा है या भगवान के द्वारा हो रहा है' यह भाव जब दृढ़ हो जाता है तो कर्म फल लौट कर आता है तो कर्ता महाशय ही नदारद रहते हैं तो फल की वासना को स्थान मिलेगा कहां? इस प्रकार कर्ता भाव और भोक्ता भाव के लुप्त होने और भगवदार्पण भाव आ जाने पर शुभ अशुभ कर्मों का बन्धन टूट जाता है। साधक उनसे मुक्त हो जाता है।

अब दूसरी पंक्ति में अगला कदम बताया- संन्यास योग से युक्त होकर भगवान को पा लेना। संन्यास का अर्थ है सांसारिक तृष्णाओं और सुख भोग की कामनाओं का न्यास (त्याग) और ब्रह्म से योग, यानी असत्य से अलग होना और सत्य से जुड़ना। ये दोनों बातें सदा साथ-साथ होती है। संसार को नहीं छोड़ेंगे तो ब्रह्म से कैसे जुड़ेंगे? ब्रह्म से जुड़ने की कोशिश नहीं करेंगे तो संसार क्योंकर छूटेगा?

इस प्रकार जो संन्यासी होगा वह योगी अपने आप हो जाएगा, उसके हृदय के तार तो अपने आप प्रभु से जुड़ जाएंगे। भगवान वादा करते हैं- सब कुछ मुझे अर्पण करके देखो, संन्यास और योग से युक्त होकर तुम निस्सन्देह मुझे प्राप्त कर लोगे।

अब अगले श्लोक में भगवान एक विचित्र बात कह रहे हैं-

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ।।२९।।

मैं सब प्राणियों के लिए समान हूं। मुझे न किसी से द्वेष है न कोई मुझे प्रिय है किन्तु जो भक्तिपूर्वक मुझे भजते हैं वे मुझमें और मैं उनमें हूं।

अभी कुछ देर पहले इसी अध्याय के चौथे श्लोक में प्राणियों के साथ अपना संबंध बताते हुए भगवान ने कहा था कि वे मुझमें हैं पर मैं उनमें नहीं हूं और अब कितनी बेशर्मी से कह रहे हैं- वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूं। वास्तव में सच यही है कि भगवान समान रूप से सबमें है, उन्हें किसी से विशेष प्रियता नहीं किसी से द्वेष नहीं। उनके लिए तो सब समान है। वे तो सबमें पूर्ण उज्जवलता के साथ प्रकाशमान होने आतुर है पर हमीं ने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद के इतने लबादे ओढ़ रहे हैं कि वह प्रकाश दिखाई नहीं देता। हम स्वयं भी अनुभव नहीं कर पाते कि हम सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। लेकिन भगवान के भक्त के ये आवरण हट चुके होते हैं। वह स्वयं भी परमात्मा की अपने अन्दर स्थिति को अनुभव करता है और सम्पूर्ण सृष्टि को भी परमात्ममय जान कर अपने आप को परमात्मा में लीन किए रहता है। संसार के लोग भी उसके व्यवहार और व्यक्तित्व में अलौकिक आभा देख पाते हैं। इस प्रकार यह तो भक्त की अपनी शक्ति है जो भगवान से कहला रही है कि वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूं।

पेट्रोल तो सबके लिए एक ही है। हमारा गाड़ी ही खटारा होगी तो कोई क्या कर सकता है? बगल के फर्राटे के साथ नई कार गुजर जाए तो पेट्रोल पम्प वाले को दोष देना बेकार है कि हमारा पेट्रोल खराब है और उसका का अच्छा। हमें तो बोनट खोलकर इंजन को सुधारना होग।

बोनट के अंदर का इंजन है हमारा मन-बुद्धि। इनकी ट्यूनिंग करेंगे तब जीवन की गाड़ी सुचारु रूप से चलेगी। जैसे रेडियो को अलग-अलग स्टेशनों पर ट्यून किया जाता है तब किसी पर फिल्मी गाने सुनाई देते हैं किसी पर भजन। हमारे मन-बुद्धि का रेडियो तो विषय-भोग स्टेशन पर ट्यून किया हुआ है जो थकान, ऊब, और चिड़चिड़ाहट का संगीत प्रसारित कर रहा है। सुरीला संगीत सुनना है तो ॐ स्टेशन पर ट्यून कीजिए। बस आप होंगे और

संगीत होगा। ऐसे लीन हो जाएंगे कि रेडियो में बजती वीणा के साथ आपके हृदय तन्त्र भी झंकारेंगे। संगीत बाहर बज रहा है या अन्दर यह भान भी नहीं रहेगा। संगीत आपमें होगा, आप संगीत में डूबे होंगे, यानी भगवान भक्त में होंगे, भक्त भगवान में। यह वाक्य वास्तव में सम्पूर्ण तन्मयता का परिचायक है।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ।।३०।।

यदि अतिशय दुराचारी भी मेरी अनन्य उपासना करता है तो उसे साधु मानना चाहिए क्योंकि उसने सम्यक् निश्चय किया है।

हम दूसरे के सामने तो अपने को बड़ा महान साबित करने या प्रदर्शित करने का प्रयत्न करते रहते हैं पर वास्तव में हमारी अपने बारे में बहुत निम्न धारणा रहती है हमें लगता हम बड़े पापी हैं, दुराचारी हैं, हमारा तो कल्याण हो ही नहीं सकता। हम तो भगवान के चरण कमलों में आश्रय लेने योग्य ही नहीं हैं।

यहां भगवान हमें प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि सु-दुराचारी अर्थात् उच्च कोटि का दुराचारी भी उन्हें पा सकता है यदि उसके हृदय में अनन्य भक्ति का भाव आए जाए। वैदिक साहित्य पाप की निन्दा करता है पापी की नहीं। हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि कोई भी व्यक्ति जन्म से पापी नहीं होता। किसी ने कोई पाप कर्म कर डाला तो उसे सदा के लिए पापी समझ कर निम्न दृष्टि से देखना और दुत्कारना भी ठीक नहीं। पापी व्यक्ति यदि पवित्र भावों को अपना कर सज्जन पुरुष का सा व्यवहार करने लगे और अपने निश्चय पर दृढ़ रहे तो उसे साधु समझना चाहिए। भगवान ने तो यहां अपना द्वार पूरी तरह खोल रखा है। भगवान स्वयं जब उसे साधु कह कर अपना रहे हैं तो साधारण मनुष्यों को तो हक ही क्या कि उसे पापी समझे।

यहां जो शर्त भगवान ने रखी है वह ध्यान देने योग्य है। यह शर्त है अनन्य भक्ति की। भगवान के प्रति भी झुकाव हो तो सही पर साथ ही सांसारिक कामनाएं भी हों तो यह व्यभिचारिणी भक्ति है जो प्रभु के साथ-साथ

दूसरी वस्तुओं के प्रति भी प्रेम रखती है। लेकिन जहां भक्ति में अनन्यता का भाव आ गया वहां तो नारायण को छोड़ कर लक्ष्मी या किसी और के प्रति प्रेम अथवा झुकाव है ही नहीं, फिर दुराचार में प्रवृत्ति होने का प्रश्न ही कहां रहा? इसीलिए भगवान कह रहे हैं कि जिसने सम्यक् निश्चय कर लिया है कि गिरधर गोपाल के अलावा मेरा कोई होगा ही नहीं, वह अतीत में कितना भी बड़ा पापी क्यों न हो, अब साधु कहलाया जाना चाहिए। ऐसे व्यक्ति की गति बताते हुए भगवान कहते हैं-

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ।।३१।।

जल्दी ही वह धर्मात्मा हो जाता है और शाश्वत शांति को प्राप्त करता है। हे कौन्तेय! तुम निश्चित जानो कि मेरे भक्तों का कभी नाश नहीं होता।

पापात्मा जैसे ही अनन्य भक्त हो जाए उसे साधु मानना चाहिए। क्यों? इसका उत्तर भगवान दे रहे हैं कि भक्ति की ओर प्रवृत्त होने के बाद उसे धर्मात्मा बनते देर नहीं लगती।

हमारे शरीर मन बुद्धि इस विषय वासना के जगत में फंसकर इधर-उधर धक्के खाते हैं और संसार को अधिक से अधिक पा लेने या भोग लेने के चक्कर में एक से बढ़कर एक पाप कर्म करते रहते हैं। जैसे जैसे हमारी ये करतूतें बढ़ती हैं हम दुराचारी से सु-दुराचारी बनते जाते हैं, किंतु जिस क्षण हमारी बुद्धि ने संसार से नाता तोड़ राम से नाता जोड़ दिया, उसी क्षण हमारे व्यक्तित्व में परिवर्तन होना आरम्भ हो गया। विषय वासना के जगत से वैराग्य होता जाएगा, उसकी लालसा कम होती जाएगी। उसी के अनुपात में मन शांत होता जाएगा। मन शांत होगा तो कर्म पवित्र होंगे। कर्म पवित्र होंगे तो मन-बुद्धि पर वासना का दबाव कम होगा। वासना का दबाव कम होगा तो विवेक जागृत होगा और मन बुद्धि आपस में मिलकर ही निर्णय लेंगे। इस प्रकार एक बार शुरू होने के बाद पवित्र कर्म और वासना के दबाव की कमी का सिलसिला चलता ही जाएगा। जब हमें इस परिवर्तन का अनुभव होगा, ऐसी शांति का स्वाद मिलेगा जिसे हमने फाइव स्टार होटल में भी चखा

ही नहीं था तो फिर अपने पुराने कचरे की ओर आंख उठाकर कौन देखेगा भला? फिर तो इसी दिशा में बढ़ने का अधिक से अधिक उत्साह होगा। इसीलिए भगवान कहते हैं कि वह जल्दी धर्मात्मा हो जाएगा।

यह बात इस प्रकार तर्क पूर्ण ढंग से प्रस्तुत कर देने पर तो एकदम सही मालूम देती है पर क्या व्यवहारिक भी है? भगवान की ओर मुड़ता कौन नहीं? और कुछ भी नहीं तो भयंकर तकलीफ में जब दूसरा कोई काम आता हुआ नहीं जान पड़ता तब तो भगवान का ही सहारा लेते हैं पर उसके बाद धर्मात्मा बनते कहां हैं? तकलीफ मिटी और वही का वही काम शुरू।

याद करें कि भगवान ने दुराचारी से सदाचारी बनने की बात बताने में पिछले श्लोक में दो शब्दों का प्रयोग किया था- अनन्यता और सम्यक् निश्चय। तकलीफ में हम भगवान का सहारा लेते तो हैं पर सम्यक् निश्चय कहां करते हैं कि अब जीवन में सदा भगवान का ही सहारा लेंगे अन्य किसी का नहीं। तकलीफ दूर होने के बाद तो भगवान हमारे लिए वक्त पर काम आने वाला खोटा सिक्का बन जाता है और सहारा हम रुपये पैसे, जमीद जायदाद, कुटुम्ब कबीले का लेने लगते हैं। अनन्यता के लिए सम्यक् निश्चय करने पर ही हम शीघ्र धर्मात्मा बनेंगे।

दूसरी महत्वपूर्ण बात जो इस श्लोक में कही गई है वह है, 'शाश्वत शांतिं निगच्छति'। दुराचारी सदाचारी बन कर शाश्वत शांति प्राप्त करता है, ऐसी वैसी नहीं। वास्तव में साधारण तौर पर हम जिसे धार्मिक व्यक्ति कहते हैं वह तो जीवन में पुण्य कर्म भी करता है लेकिन संसार में भी दिल से रुचि रखता है उसे अपने कर्मों और रुचि के अनुसार शांति का मीठा फल मिलता है लेकिन वह शाश्वत नहीं होता। दूसरों की अपेक्षा वह शांत दिखाई देगा पर बीच-बीच में ब्लड प्रेशर बढ़ ही जाता है लेकिन जो इस संसार में रहते हुए भी इससे बेदिल हो जाए और दिल भगवान को दे बैठे तो उसके जीवन की शांति चिर स्थाई होती है। उसने स्थिर और स्थायी का सहारा जो लिया है। हिलते पटरे पर चलकर नदी पार करने की कोशिश करेंगे तो निश्चिंतता कहां से आ जाएगी? पक्का पुल बना हो जिसके हिलने, टूटने का डर न हो तभी हम हंसते खेलते नदी पार कर सकते हैं।'

इस श्लोक की अगली पंक्ति में भगवान ने प्रतिज्ञा करने के स्वर

में कहा है- 'अर्जुन! तुम निश्चित जानो कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता।' यह भगवान का वादा है। इस पर विश्वास कीजिए। भगवान यह कहते हुए एकदम सीरियस हैं। वे गोपियों को और मैया को भुलावे में डालने के लिए बहुत झूठ बोलते थे लेकिन गीताचार्य के रूप में हम उनकी महिमा देख रहे हैं। वे सत्य ही कह रहे हैं। पापात्मा धर्मात्मा बन सकता है लेकिन धर्मात्मा कभी पापात्मा नहीं बन सकता। भगवान ऐसा होने ही नहीं देंगे।

पापात्मा से धर्मात्मा बनने के सबसे बड़े-बड़े उदाहरण हैं रत्नाकर जो कि वाल्मीकि बना और अंगुलीमाल जो भगवान बुद्ध का परम शिष्य बना। धर्मात्माओं की भी अनेक कहानियां हैं जब वे धर्मच्युत हो जाते हैं। बड़े-बड़े ऋषि मुनि भी माया मोह में फंस कर पथभ्रष्ट होते हुए देखे सुने गए हैं पर क्या वे उनमें हमेशा के लिए फंसे रह पाए? नारद जी के विवेक को भगवान ने हरि का रूप देकर जागृत ही किया था। अजामिल जैसे व्यक्ति को भी सद्गति मिल ही गई। वह सदाचारी से दुराचारी बन गया था लेकिन अंतकाल में सदाचार का मीठा फल मिल ही गया। अतएव कभी भी किसी भक्त की दुर्दशा नजर आए तो यह नहीं सोच लेना चाहिए कि भगवान यूं ही बड़ी-बड़ी बाते हांक रहे हैं। भक्ति में कुछ आनी जानी नहीं। जो हमें दुर्दशा नजर आती है वह भक्त के लिए भगवान की विशेष योजना रहती है। उनका ध्यान इसी बात पर रहता है कि उसकी भक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाएं क्योंकि शाश्वत शांति का फल तो भक्ति से ही मिलता है सांसारिक उपलब्धियों से नहीं।

इस प्रकार हमने देखा कि दुराचारी व्यक्ति भी भगवान को पा सकता है। अब देखें और किसे भगवान अपना अधिकारी बता रहे हैं-

मां हि मार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।।३२।।

हे पार्थ! जो मेरा आश्रय ले लेता है वह पापयोनि, स्त्री, वैश्य या शूद्र भी क्यों न हो, उसे परम गति प्राप्त होती है।

इस श्लोक का कुछ लोग मनमाना अर्थ निकाल कर भगवान् कृष्ण से नाराज हो जाते हैं। उन्हें इस श्लोक की भाषा से ऐसा लगता है कि भगवान

ने स्त्री, वैश्य, शूद्र को हीन समझा है। कुछ पापयोनि शब्द को स्त्री, वैश्य, शूद्र का विशेषण मान लेते हैं और आपत्ति प्रकट करते हैं कि भगवान ने स्त्री को पापयोनि क्यों कह दिया।

करुणावरुणालय भगवान तो किसी को भी तुच्छ, अधम या हीन नहीं समझते। उनके तो सब अपने हैं। जब वे स्वयं ही उनमें प्रकाशमान हो रहे हैं तो उन्हें हीन समझने का प्रश्न ही कहां उठता है।

लेकिन भगवान ही जानते हैं कि वे सबमें हैं। हम तो जानते नहीं। हम स्वयं अपने को अधम-पातकी समझकर ग्लानि करते रहते हैं। इसलिए भगवान ने हमारा मनोबल बढ़ाया है,अपने हाथ फैलाए हैं, 'देखो! झिझको नहीं। घबराओ नहीं। आओ! एक बार मेरा आश्रय ले लो। देखो! तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूं। तुम माया-मोह में मुझे भुलाए बैठे हो। आओ! मैं तुम्हें परम गति प्रदान करता हूं।'

मनुष्य जैसे कर्म करता है उसी के अनुसार उसे अगली योनि मिलती है। पाप कर्मों के फल स्वरूप उसे विभिन्न पशुओं की योनि में जाना पड़ सकता है या मनुष्य भी हुआ तो उसकी शारीरिक, पारिवारिक अवस्था बहुत खराब हो सकती है। वह विकलांग हो, चाण्डाल हो, कसाई हो, तो मन में सोचेगा- मैंने पूर्व जन्म में बहुत पाप किए हैं, मैं पापयोनि हूं, अधम, नीच, पातकी हूं। मेरा उद्धार तो हो ही नहीं सकता। भगवान उसे ही कह रहे हैं-'पुत्र! तुम मेरी ओर देखो तो सही, तुम्हारे उद्धार की चिंता मैं करूंगा। बस एक बार आ जाओ।'

स्त्रियों को भी भगवान ने हीन नहीं समझा है। हमारे समाज का ढांचा कुछ ऐसा है कि स्त्रियां हीनभाव से ग्रस्त हो जाती हैं। महाभारत के युग में भी सनातन धर्म का स्वरूप विकृत हो ही चुका था। स्त्री को भोग की वस्तु समझा जाने लगा था। लड़कों की भांति उन्हें गुरुकुल नहीं भेजा जाता था। वेद तो छूने की भी अनुमति नहीं। आज के युग में भी कितने ही आश्रम में स्त्री का प्रवेश निषेध है। महात्मा पुरुष स्त्रियों को शिष्या नहीं बनाते क्योंकि स्त्री पुरुष दोनों रहेंगे तो आश्रम में व्यभिचार फैलेगा। ऐसे सामाजिक-पारिवारिक बंधनों में बंधी स्त्री स्वाभाविक ही सोचने लगती है- 'मैं औरत जात कर क्या सकती हूं? मुझे तो सत्संग में जाने की भी अनुमति नहीं मिलती।' भगवान

उससे कहते हैं- 'पुत्री! तुम क्यों घबराती हो, मै हूं तुम्हारा रखवाला। तुम साधनहीन हो तो क्या हुआ मेरा सहारा तो साधनहीनों के लिए ही है, तुम अपने गृह कार्यों को भी मुझे अर्पण करके देखो तो सही, मेरी भक्ति करके देखो तो सही, मैं तुम्हें मुक्त करूंगा।'

इसी प्रकार वैश्य और शूद्र समझ लेते हैं कि हममें तो सात्विक भाव है ही नहीं, हमारी प्रकृति तो स्वाभाविक रूप से ही खाने-कमाने की है। हम तो तप नहीं कर सकते, शास्त्रों के अध्ययन में हमारी रुचि होती ही नहीं। हमारा उद्धार कैसे होगा? भगवान उनका भी मनोबल बढ़ाते हुए कह रहे हैं- 'तुम राजविद्या को अपनाओ, बाकी सारी विद्याए इसके सामने तुच्छ हैं। तुम मेरा आश्रय लेकर देखो, तुम्हारी मुक्ति तो ब्राह्मणों से पहले होगी।'

अपने छोटे और कमजोर बच्चों को सम्भालने-पुचकारने के बाद अंत में भगवान बड़ों को देखते हैं:-

कि पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ।।३३।।

फिर पुण्यकर्मा ब्राह्मणों और भक्त राजर्षियों का तो कहना ही क्या (वे तो बहुत ही सरलता से मुझे पा लेंगे) अतः इस अनित्य और असुख संसार को प्राप्त कर तुम मुझे भजो।

जब अधम योनि वाले तथा वैश्य, शूद्र और स्त्री भी मुझे समर्पण योग द्वारा प्राप्त कर सकते हैं तो ब्राह्मण और राजर्षियों के लिए तो सोचने की बात ही नहीं।

वैश्य और शूद्र की भांति ब्राह्मण शब्द भी मनोवृत्ति से सम्बन्धित है, जन्म, कुल, या खानदान से नहीं। भगवान जब ब्राह्मण शब्द का व्यवहार करते हैं तो उसका अर्थ होता है वह व्यक्ति जिसमें सत्व गुण की प्रधानता हो। जिसकी स्वाभाविक रुचि पठन-पाठन, चिंतन-मनन आदि में हो। जिनके कर्म पुण्य कर्म की श्रेणी में रखे जाने योग्य हों। क्षत्रिय से भगवान का अभिप्राय होता है- वह व्यक्ति जिसमें रजस और सत्व का मेल प्रमुख हो, जो कर्मठ

तथा जुझारू हो और जिसके कर्म दूसरे के हित के लिए होते हों। वैश्य से भगवान का तात्पर्य वह व्यक्ति होता है जिसमें रजस और तमस का मेल प्रमुख हो। जो अत्यधिक कर्मठ हो किन्तु कर्म केवल स्वयं के लाभ की दृष्टि से करता हो। शूद्र से भगवान का तात्पर्य वह व्यक्ति होता है जिसमें तमस की प्रधानता होती हो। जो कम से कम काम और ज्यादा से ज्यादा आराम करना चाहता हो।

जो कर्म करने की प्रवृत्ति ही नहीं रखता वह कर्म योग द्वारा तो भगवान को पा नहीं पाएगा। जो वैश्य रात-दिन ज्यादा से ज्यादा लाभ कमाने की प्रवृत्ति स्वभावत: ही रखता है उससे चिंतन-मनन वाला ज्ञान योग कैसे सधेगा? किंतु इस समर्पण रूपी राजयोग के अधिकारी सभी हैं। वैश्य, शूद्र का नाम तो पिछले श्लोक में गिनाया था, बाह्मण और क्षत्रिय का नाम इसमें गिना रहे हैं।

क्षत्रिय के लिए यहां उन्होंने राजर्षि शब्द का प्रयोग किया है। ऋषि दो प्रकार के होते हैं- ब्रह्मर्षि और राजर्षि। जैसे वसिष्ठ ब्रह्मर्षि थे क्योंकि वे जन्म से ही सात्विक प्रवृत्ति वाले थे। विश्वामित्र राजर्षि थे क्योंकि वे क्षत्रिय थे। उन्होंने राज-पाट, सुख-ऐश्वर्य पूरा भोगा था। भोगने के बाद उनकी व्यर्थता का ज्ञान होने पर उन्हें छोड़कर ब्रह्म का चिंतन करने वाला राजर्षि होता है।

अब यदि हम अपनी बुद्धि से समझने बैठेंगे कि भगवान को कौन पा सकता है तो सबसे पहले तो हमारे दिमाग में राजर्षि का नाम उभरेगा। फिर हम सोचेंगे कि ब्राह्मण भी पाएगा। वैश्य, शूद्र या कमजोर स्वभाव, शरीर वाले व्यक्ति के साथ तो कोई चमत्कार ही घट जाए तो भले वे भगवान को पा लें लेकिन जो पापी है उसका तो सवाल ही कहां?

लेकिन ध्यान रहे, भगवान ने जब अपने अधिकारियों की बात की तो सबसे पहले पापी का नाम लिया और अंत में राजर्षि का। भगवान यहां भक्ति की भाषा बोल रहे हैं न। भक्ति में जो जितना कमजोर और साधन विहीन होता है वही उतना बड़ा अधिकारी होता है। भगवान का अनुग्रह उसी पर विशेष होता है। भगवान यह नहीं देखते कि आपने उनके लिए कितना अधिक किया। आपने भगवान की कथा करायी कि नहीं, अस्पताल बनावाए कि नहीं, संत-महात्माओं का सत्संग किया कि नहीं, एक सौ आठ हरि नाम की माला जपी कि नहीं। वे तो केवल भाव देखते हैं। वे तो केवल यह देखते हैं कि

आपका मन उनमें रमता है कि नहीं। वे तो केवल यह देखते हैं कि आप कम से कम जो भी कर सकते हैं वह करते हैं कि नहीं। गृहस्थी में, व्यवसाय में, नौकरी में भी उनकी याद आपके हृदय में बनी रहती है कि नहीं। यदि आपको अपनी परिस्थितियां ज्यादा प्रतिकूल मालूम दें तो समझ लीजिए कि आपका भगवान पर अधिकार ज्यादा है। औरों को तो उन्हें पाने के लिए बड़े-बड़े काम करने पड़ेंगे, आप तो सोते, खाते, खटते वक्त उनकी याद बनाए रखिए, बस योग सध जाएगा।

अंत में अर्जुन को उपदेश देते हुए भगवान कहते हैं कि यह संसार अनित्य है और असुख है। असुख का अर्थ है कि सुख है तो सही पर स्थाई नहीं रहता, उसकी परिणति दुख में हो जाती है। हम सबको गृहस्थी में सुख लगता है इसीलिए परिवार बढ़ाते हैं लेकिन इसके साथ कितना दुख मिलता है उसे भोगते हुए भी हम विश्लेषण नहीं करते। सुख में हंस लेते हैं, दु:ख में रो लेते हैं। जीवन खिंचता रहता है लेकिन असुख को समझ कर हम वैराग्य नहीं लेते, हम अपने मन-बुद्धि का विषय भगवान को नहीं बनाते। भगवान तो बार-बार यही कह रहे हैं- शरीर को जितना चाहे संसार में लगाए रखो लेकिन अपना मन मुझे दे दो। मैं तो तुम्हारे भाव का भूखा हूं।

अगले श्लोक में इस अध्याय का उपसंहार करते हुए भगवान यही बात विस्तार से कह रहे हैं:-

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्ववैमात्मानं मत्परायणः ।।३४।।

मुझमें अपना मन लगा, मेरा भक्त हो जा, मुझे अर्पित कर, मुझे नमस्कार कर। इस प्रकार अपने आप को पूर्णरूप से मुझमें युक्त कर मुझे ही अपना परम लक्ष्य मान। तब तू मुझे प्राप्त हो जाएगा।

यह श्लोक पूरे नवम् अध्याय का सार है। पहले भी चौदहवें में नमस्यन्तश्च मां भक्त्या कहा गया था। सत्ताईसवें श्लोक में यत्करोषि ... तत्कुरुष्व मदर्पणम् बोले थे। इन्हीं बातों को अंत में फिर याद दिला रहे हैं।

'मन्मना भव' जब भगवान कहते हैं तो उसका तात्पर्य यह है कि दिन-रात संसार का चिंतन करने से भी कुछ नहीं होगा। चिंतन भगवान का हो, मन मंदिर में वे बसे रहें तब कार्य भले सांसारिक हो या परिमार्थिक, उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता।

मन वहीं लगता है, चिंतन उसी का होता है जिससे हमें प्रेम हो। संसार में भी प्रेम के कई स्वरूप देखते हैं। बच्चों के प्रति माता-पिता का प्रेम और माता-पिता के प्रति बच्चों का प्रेम भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। पहला वात्सल्य दूसरा आदर। इसी प्रकार अपने तथा सम्पूर्ण जगत के पिता, माता, स्वामी, कर्ता, भर्ता को जब हम प्यार करने लगते हैं तो उसे भक्ति कहते हैं। भगवान इसी भक्ति की मांग कर रहे हैं।

'मद्याजी' शब्द से भगवान का तात्पर्य यह है कि हम अपने समस्त कर्मों के द्वारा उनका पूजन करें।

जब भगवान कहते हैं कि 'मुझे नमस्कार कर' तो वे समझाना चाह रहे हैं- 'हे मानव, तू मैं और मेरे का अहंकार मत ला। तू अपने को कर्ता मान कर सुख में फूल मत। तू अपने को लाचार मानकर दुख में डूब मत। ये सारे कर्म, इन कर्मों के फल का विधान, सब कुछ मेरा है। तू अपने अहंकार का मेरे सामने त्याग कर। जब तेरी मांगें कुछ नहीं होगी तब मैं तुझे मिलूंगा जिसे पाने के बाद जगत में कुछ भी पाना शेष नहीं रह जाता। तू मेरे परायण हो, मुझे अपना परम लक्ष्य मान।'

साधारणत: हम जरा सी प्रतिकूलता में परेशान हो जाते हैं लेकिन यदि हमारे हृदय में कोई लक्ष्य स्थित हो तो प्रतिकूलता को सरलता से स्वीकार कर लेते हैं। विशेष प्रयोजन, यात्रा आदि में हमें खाने-पीने, सोने की जो दिक्कतें आती हैं उसमें हम दुखी नहीं होते। इसी प्रकार हमारा ध्यान निरन्तर इसी बात पर केन्द्रित हो कि भगवान के प्रति हमारे प्रेम और समर्पण में वृद्धि हुई कि नहीं, तो संसार की प्रतिकूलताएं समाप्त नहीं हो जाएंगी, पर हम उनसे दुखी नहीं होंगे। सांसारिक सुख की आशा से भगवान को भजने वाले सावधान हो जाएं। भगवान ने कहीं नहीं कहा है कि मुझे भजने से तुम्हें वैभव मिलेगा, आराम मिलेगा। वे तो कहते हैं कि मुझे भजोगे तो मैं ही मिलूंगा।

भगवान के भजन से सुख नहीं मिलेगा सोच कर निराश होने की

आवश्यकता नहीं। यह बात पक्की है कि भजन से वैसा सुख नहीं मिलेगा जिसके हम आदी हैं यानि भोगों से मिलने वाला क्षणिक सुख। इसके ऊपर की बात हम सोच नहीं पाते लेकिन भगवान की प्राप्ति का सुख तो शाश्वत सुख है जिसके बाद भोगों की, सांसारिक सुखों की चाह ही नहीं रहती। यदि एक सुख लालसा हमारे मन से दूसरे सुख की चाह ही समाप्त कर दे तो निश्चित रूप से पहले वाला सुख ही बड़ा है।

भगवान को पाने का सुख सर्वोच्च सुख है और इसे पाने के सरलतम तरीके को भगवान ने राजविद्या का नाम दिया है।

इस प्रकार श्रीकृष्ण अर्जुन संवाद में राजविद्या राजगुह्य नामक नवम अध्याय पूर्ण हुआ।

ॐ तत् सत्